

केदारनाथ अपवाल

जमुन जल त्रूम

सम्पादक
अशोक त्रिपाठी



जमुन जल तुम

(केदारनाथ अग्रवाल की प्रेम-संस्पर्शी कविताएँ)

सम्पादक

डॉ० अशोक त्रिपाठी



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-182-6

✽
प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

✽
लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

✽
स्वत्वाधिकारी

ज्योति अग्रवाल

✽
संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

✽

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

✽

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

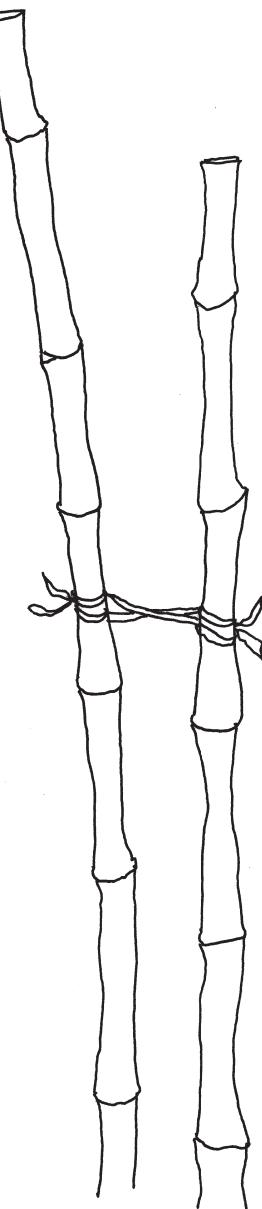
✽

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 175.00 रुपये मात्र

जमुन जल तुम



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक तिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक तिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल

2009

६५२३८५२०८८

कैफियत के बाद

‘जमुन जल तुम’ एक विशेष योजना के तहत प्रगतिशील कविता के मानदण्ड श्री केदारनाथ अग्रवाल की अब तक की पुस्तकाकार अप्रकाशित पुरानी कविताओं का दूसरा संकलन है, जिनका विषय प्रेम है। वैसे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इनमें से कुछ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस प्रकार का पहला संकलन व्यांग्य और राजनीतिक संस्पर्श की कविताओं का ‘कहें केदार खरी खरी’ है, जो 1983 ई० में प्रकाशित हुआ है। केदारजी प्रारम्भ में ‘बालेन्दु’, बी० ए० के नाम से लिखते थे, इसलिए कुछ कविताओं में ‘बालेन्दु’ की छाप भी मिलेगी।

‘कहें केदार खरी खरी’ में ‘कैफियत’ शीर्षक से उन सारी बातों का खुलासा दिया जा चुका है कि इस प्रकार की कविताओं के संकलन और प्रकाशन की योजना क्यों और कैसे बनी। उसे यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं है। लेकिन एक बात साफ कर देना जरूरी है कि योजना के प्रारम्भ में इस तरह का इरादा नहीं था कि अलग-अलग विषय वस्तु के आधार पर कविताओं का संकलन किया जायगा। उस समय तो यही विचार था कि बिना विषय वस्तु की परवाह किये हुए सारी कविताएँ काल-क्रम से संकलित की जायेंगी, लेकिन आगे चलकर ऐसा नहीं हो सका। ‘कहें केदार खरी खरी’ में राजनीतिक संस्पर्श की व्यांग्य कविताएँ ही क्यों संकलित की गयीं, इसका कारण भी ‘कैफियत’ में बता दिया गया है।

कुछ-कुछ उसी प्रकार का कारण केदारजी की इन प्रेम-कविताओं के एक साथ संकलन का भी है। उनकी अब तक की अप्रकाशित पुरानी कविताओं के संकलन-प्रकाशन-योजना की ‘कैफियत’ देने के बाद अब सिफ़ इतना बताना जरूरी समझ रहा हूँ कि आखिर इस संकलन में उनकी प्रेम-कविताएँ ही क्यों संकलित की गयीं।

प्रेम मानवीय जीवन की एक अनिवार्य मूल प्रवृत्ति है। अगर प्रेम का सम्बन्ध हम मांसलता से जोड़ने का दुस्साहस करें और जो निश्चय ही मांसलता से उपजता है, तो प्रेम रोटी की भूख की तरह एक भूख भी है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य है अन्यथा जीवन में असंतुलन अपरिहार्य है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि यहाँ मैं जिस प्रेम की बात कर रहा हूँ, ‘वह काम मंगल से मंडित श्रेय’ है और प्रेय तो वह है ही।

प्रेम को केवल हृदय से जोड़कर देखना उसे शुद्ध भावना का व्यापार बताना, छल करना है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रेम का सम्बन्ध केवल मांसलता से ही है। परन्तु, प्रेम का सम्बन्ध मांसलता से भी है, इसमें भी शंका की गुंजाइश नहीं है। आदि कवि वाल्मीकि में से लेकर कविता में प्रेम की घोर शृंगारिक अभिव्यक्ति के बावजूद, वासना से रहित मानी जाने वाली सूर की कविता तथा मर्यादित प्रेम की प्रतीक तुलसी की कविता तक में, प्रेम का उद्गम स्थोत रूपाकर्षण ही रहा है।

तुलसी की कविता में भक्ति-रस की जो पावन घनीभूत सांद्र धारा हमें आप्लावित करती है उसकी गहराई, एकनिष्ठता और विस्तार का मानदण्ड ही अनुभूति प्रवण वासनासिक्त प्रेम और रोटी की वह उत्कट भूख ही है, जो चने के चार दानों को ही चारों फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—मानने को मजबूर करती है और भक्ति जैसे सात्त्विक और पवित्र भाव के लिए, काम-दाम अनुभव-दृष्टि की परिधि बन जाती है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरंतरहि, प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्ति की साधना में बाधक इन दोनों प्रभावशाली तत्वों में, ऐसा कौन सा आकर्षण है कि तुलसी, जब भक्ति जैसे पावन भाव के लिए उपमान खोजने बैठते हैं, तो उन्हें कुछ सूझता ही नहीं है बार-बार उनकी चेतना-दृष्टि काम और दाम पर ही जाकर अटक जाती है। काम और दाम की यह आँख-मिचौनी तुलसी भक्ति के साथ क्यों खेलते हैं? इसके लिए कोई सात्त्विक उपमान क्यों नहीं लाते? यह सवाल अपना उत्तर अपने आप है। इसे किसी दूसरे उत्तर की जरूरत नहीं है, क्योंकि

इतना बड़ा कवि जब, इन्हें भक्ति से जोड़ता है, तो अनायास नहीं; इनकी सार्वभौमिक शक्ति और महत्ता की अनिवार्यता ही वह कारण है, जो तुलसी जैसे लोक-कवि को निरन्तर हॉन्ट करती है।

प्रेम में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, रूपाकर्षण की प्रमुख भूमिका रहती है। राम और सीता परस्पर आकर्षित होते हैं, उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम का उदय होता है, तो एक दूसरे के रूप के प्रति आकर्षित होने के बाद ही। राधा कृष्ण की ओर और कृष्ण राधा की ओर आकर्षित होते हैं, तो वे भी रूप-लिप्सा के वशीभूत होकर ही। मीरा भी कृष्ण से सौन्दर्य पर ही अनुरक्त होती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम के साथ रूप का अटूट सम्बन्ध है। यह एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है तथा सत्य भी।

लेकिन मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दर्शन के मानने वाले हम सब में से, जब कुछ तथाकथित छद्म और ना समझ लोग प्रगतिशीलता का एक ऐसा अवैज्ञानिक दायरा बनाकर चलते हैं, जिसमें प्रेम के वैज्ञानिक रूप और बायोलॉजिकल नीड्स जैसी भूख के प्रवेश को निषिद्ध माना जाता है, तो उनकी समझ पर कुछ अटपटा सा प्रश्न चिह्न खड़ा होना स्वाभाविक है। क्योंकि शायद उन्हें भी यह जानकारी होगी कि मार्क्स, लेनिन, एंजिल्स और चे ग्वारा ने भी कविताएँ लिखी हैं और प्रेम कविताएँ लिखी हैं। वैसे भी जिन मजदूर और शोषित जन की पक्षधरता के ज्वार में कुछ नौसिखिये प्रगतिशील प्रेम और सौन्दर्य की उपेक्षा करते प्रतीत होते हैं, उन्हें यह भी पता होना चाहिए कि शोषित और मजदूर भी प्रेम करता है, उसकी जिन्दगी में भी गाहे-बगाहे कोमल भावनाओं के संवेदनशील क्षण आते हैं, जब वह अपनी पत्नी-प्रिया के प्रति अतिरिक्त सौन्दर्य-सिक्त हो उठता है। क्या उसके जीवन के रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह खूबसूरत और एक जीवन्त वास्तविकता की तरह इनका चित्रण करना हम प्रगतिशील रचनाकारों का अनिवार्य धर्म नहीं होना चाहिए?

प्रगतिशील होने का मतलब यह तो नहीं है कि हम जिन्दगी की असलियत से दूर, केवल राजनीतिक नारेबाजी और शोषण तथा अन्याय

का विरोध करने वाली कविताएँ ही लिखें—मजदूरों और शोषितों पर ही कविताएँ लिखें, उनके सौन्दर्य के प्रति आँख मूँद लें; और जो लोग इस एकांगी धारा के विरुद्ध जीवन को सम्पूर्णता के साथ चित्रित करने के उद्देश्य से प्रेम और सौन्दर्य की कविताएँ भी लिखें, उनके बारे में यह कहा जाय कि ‘अपनी सक्रिय भूमिका के प्रति उनका विश्वास घटने लगा है।’ ऐसा कहने वालों और ऐसा सोचने वालों को अपनी सोच को पुनर्संशोधित करने की जरूरत है।

कविता में प्रेम को निषिद्ध मानने वाले लोग बिना सुरा-सुन्दरी के शामें नहीं काट पाते और जो ऐसा नहीं करता, उसे प्रगतिशील नहीं मानते हैं। इसी तरह आज पत्नी को छोड़कर परकीया प्रेम-प्रवीण होने, मजदूरों और घोषितों के नाम पर चन्दा वसूलने, मंच पर उनके शोषण और दमन का कोरम गाने तथा कमरे में या कोठे पर बैठकर उसी चन्दे से सुरा-सुन्दरी के साथ गम गलत करने की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है।

कुछ लोगों को अगर केदारजी की प्रेम और घरू तथा पास-पड़ोस की सौंदर्य पूरित जिन्दगी और प्रकृति का अहसास दिलाने वाली कविताएँ ‘सक्रिय भूमिका के प्रति विश्वास घटने वाली कविताएँ लगें, पहले की तुलना में पिछड़ी हुई’ कविताएँ लगें, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सौन्दर्य चाहे मन का हो, चाहे बाह्य प्रकृति का, जिन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता, उन्हें तो यह सब नागवार लगेगा ही। लेकिन अगर उन्होंने विश्वव्यापी प्रगतिशील साहित्य पढ़ा होगा, तो उन्हें यह पता होगा कि उसमें प्रेम का गहरा संस्पर्श पूरी ऊष्मा और निष्ठा के साथ अवश्य मिलता है। उसमें केवल शोषण, अन्याय, अत्याचार दमन और उसका विरोध ही नहीं होता, जबकि हमारे यहाँ के प्रगतिशील साहित्य में प्रेम जैसी उत्कट और शक्ति प्रदान करने वाली भावना को अप्रगतिशील और बुर्जूआ प्रवृत्ति मानकर उसे परहेज के स्तर तक त्याज्य मानते हैं। इसी का परिणाम यह है कि कुछ दिन तक चर्चा और सुर्खियों में रहने के बाद ऐसी लँगड़ी कृतियाँ यादों के तहखाने में दफन हो जाती हैं।

केदार जी, जो ‘संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति’ को कविता मानते हैं, इस लँगड़ेपन को बखूबी पहचानते हैं। इसीलिए, अपने साहित्य

को सर्वांग, सुन्दर और सम्पूर्ण स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं और यह घोषित करने में तनिक भी संकोच नहीं करते कि—

मैं नारी का प्रेमी
मेरी प्रीति अपावन
भाव राशि सब गंधी
मेरे गीत अपावन—

और यह सलाह देने में भी नहीं कि—

मेरे गीतों को तब पढ़ना
बार-बार पढ़कर फिर रटना
सीखो जब तुम प्रेम समझना
प्रेम पिए बस पागल रहना॥

साथ ही इन गीतों के रचने की प्रेरणा और स्फूर्ति का रहस्य उद्घाटित करने में भी नहीं कि—

उसके अंगों के छूने की
अब विद्युत दौड़ेगी इनमें
उसके ओठों के चुम्बन की
अब मदिरा उतरेगी इनमें
उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजाकर अंग मिलाया
ओठों को रस पान कराया

लेकिन, उनकी इस प्रेरणा और स्फूर्ति का रहस्य कोई और नहीं उनकी प्राण-प्रिया पत्नी ही हैं। उन्हें जैनेन्द्रजी की तरह रचना की प्रेरणा और रचनात्मक तनाव के लिए किसी प्रेयसी की जरूरत नहीं पड़ती। जैनेन्द्रजी की तरह उनका पत्नी प्रेम कभी बासी और ठण्डा नहीं होता, क्योंकि जैनेन्द्रजी की तरह वह व्याह में युवती नहीं ले आए, वरन् साक्षात् प्रेम ही व्याहकर ले आए थे—

मैंने प्रेम अचानक पाया
गया व्याह में युवती लाने
प्रेम व्याह कर संग में लाया।

यही कारण है कि उनका पत्नी-प्रेम नित-नूतन रूपों में स्वस्थ मानसिकता की सृष्टि करता है और कुण्ठा, बीमारी और अनास्था के स्थान पर आस्था और स्वस्थता का जीवंत उदाहरण बनाकर हमारे सामने उजागर होता है। उनमें पत्नी और प्रिया के प्रेम का द्वैध नहीं है। उनकी पत्नी ही उनकी प्रेयसी भी हैं।

केदारजी का प्रेम वायवीय प्रेम नहीं है। उनका प्रेम इसी धरती पर उपजने वाला, सुघड़ और स्वस्थ संवेदना के साथ प्रकृति से लेकर पत्नी और पुत्र-पुत्री, नाती-नातिन तक को अपने विशाल स्नेहाकाश से छाप लेने वाला प्रेम है। इसीलिए इस संकलन में पत्नी-भाव की प्रेम कविताएँ तो संकलित हैं ही, साथ ही वत्सल प्रेम कविताएँ और प्रकृति के प्रति प्रणय-भाव से सराबोर प्रेम गीतों को भी पिरोया गया है, ताकि प्रेम का एक व्यापक संसार रूपायित हो सके।

केदारजी की प्रेम परक कविताएँ ‘जमुन जल तुम’ में पहली बार नहीं प्रकाशित हो रही हैं। प्रकाशन क्रम में, सन् 1947 में प्रकाशित, उनके दूसरे काव्य संग्रह ‘नींद के बादल’ में संकलित लगभग सभी कविताएँ प्रेम के गहरे ताप से उष्ण कविताएँ हैं, जो कवि के विकास की पहली मंजिल हैं। यद्यपि कवि ने ‘नींद के बादल’ की भूमिका में स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि “‘नींद के बादल रात के जादू के बाद—दिन के लाल सबेरे के साथ ही ओझल हो जाते हैं। इस प्रकार मेरे नए सबेरे के साथ प्रेम की इस संग्रह की कविताओं की इति हो जाती है।”—लेकिन कवि की प्रेम-चेतना इस घोषणा के बंधन को स्वीकार नहीं कर पाती और आगे भी इस प्रकार की कविताएँ कवि से लिखाती रही हैं; जिसका प्रमाण ‘जमुन जल तुम’ में संकलित 1947 के बाद की लिखी प्रेम-कविताएँ भी हैं।

हो सकता है ‘कहें केदार खरी खरी’ की कविताओं के संकलन की तरह कुछ लोग इस संकलन की कविताओं के चुनाव पर भी इस प्रकार

का आरोप लगा सकते हैं कि इस संकलन में भी संकलनकर्ता ने संख्या बढ़ाने की दृष्टि से कमज़ोर कविताओं के संकलन का मोह नहीं त्यागा है, तो कोई बहुत अधिक आश्चर्य करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अगर बिना पढ़े हुए ही किसी पर कोई आरोप किसी को लगाना है, तो वह इसी तरह की अज्ञानता करेगा ही। अज्ञानता इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि ‘कैफ़ियत’ में यह बात बहुत साफ़ और स्पष्ट रूप से बता दी गयी है कि इन कविताओं के संकलन और प्रकाशन का उद्देश्य कवि के पूरे विकास-क्रम को दिखाना है। ये संकलन ‘चुनी हुई’ कविताओं के संकलन नहीं हैं, अगर चुनाव किया गया है, तो महज इस दृष्टि से कि उनमें वस्तु की एकरूपता दिखायी पड़े और वे काल-क्रम में संयोजित हों। चुनाव में कमज़ोर और सशक्त की दृष्टि है ही नहीं। इसमें तमाम ऐसी कविताएँ भी हैं, जो अपने शिल्प में अनगढ़ भी हैं तथा कुछ अधूरी भी हैं। कवि ने उन्हें यूँ ही छोड़ दिया था और फिर दुबारा उनकी ओर मुड़कर देखा भी नहीं था। इसलिए अगर कोई इन संकलनों के प्रकाशन उद्देश्य को नजरअंदाज करता है, तो मुझे उस पर महज अफसोस ही हो सकता है। और ऐसा, जब हर चीज़ के विकास को उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम में जाँचने-परखने वाले कहते हैं, तो और भी अफसोस होता है। इसके अलावा और किया भी क्या जा सकता है। खैर!

इन कविताओं का संग्रह करने के बाद, जब इनके बारे में केदारजी की खुद की प्रतिक्रिया जाननी चाही और पूछा कि ‘क्या आप इन कविताओं के बारे में कुछ कहा चाहेंगे, तो उनका पत्र आया कि ‘हाँ, मुझे भी कुछ कहना है।’ मैं उनके पास पांडुलिपि लेकर गया, तो उन्होंने ‘कुछ कहने’ के संदर्भ में वे तमाम बातें कह दीं, जिनको लक्ष्य करके मैंने इस प्रकार की कविताओं का चयन किया है। और मुझे उससे बड़ा बल मिला कि मैंने जो सोचकर यह संकलन तैयार किया है, वह बेबुनियाद नहीं है, उस सोच का भी वजूद है। प्रगतिशील कविता की एक और ही सोच से परिचित कराने का संतोष मुझे मिल सकता है।

इन्हीं शब्दों के साथ यह संकलन काव्य-प्रेमियों के हाथों में सौंप रहा हूँ, इस विश्वास के साथ कि वे इसका स्वागत उसी प्रकार करेंगे

जैसे पहले प्रेम का। कविगणों को इस उम्मीद के साथ कि वे इसे पढ़ेंगे और अपने घर में ही प्रेम का विशाल वृक्ष रोपेंगे और उसकी शीतल-ऊष्म छाया में खुद भी विश्राम करेंगे, थकान दूर करेंगे और दूसरों को भी उसका स्निग्ध ताप महसूस करायेंगे और पत्नी तथा प्रेमिका के वैमनस्य को दूर करेंगे।

इस संकलन के तैयार करने और इसके पूर्व केदारजी की पुरानी अप्रकाशित कविताओं के संकलन में आदरणीय अग्रज ओंकार शरद जी, भाई शैलेन्द्र चौहान (इलाहाबाद), भाई अश्विनी कुमार उपाध्याय, गीता भाभी, डॉ० सिद्धार्थ, प्रो० रामप्यारे राय, एहसान आवारा, आनंद सिन्हा, जयकान्त शर्मा, गोपाल गोयल, पं० जगतनारायण शास्त्री (बाँदा) तथा अजय तिवारी (दिल्ली) ने जो सहयोग दिया उसके लिए मैं इन सबका आभारी हूँ।

परिमल प्रकाशन के संचालक अग्रज शिवकुमार सहाय के प्रति आभार व्यक्त करना गुस्ताखी होगी क्योंकि मैंने जो भी किया है, उनके ही बल-बूते पर किया है। वह बराबर के ही नहीं बल्कि उससे अधिक के हकदार हैं। उनके प्रति आभार व्यक्त करना अपने प्रति ही आभार व्यक्त करना होगा।

1 अगस्त, 1984

—अशोक त्रिपाठी

22 लाउदर रोड, इलाहाबाद-2

मुझे भी कुछ कहना है

सौन्दर्य और प्रेम की अनुभूतियाँ नर और नारी को आदिकाल से अब तक जीवनयापन के लिए संघर्ष के क्रम से प्राप्त हुई हैं। ऐसा नहीं है कि आदिम युग में नर और नारी पैदा होते ही अपने साथ यह अनुभूतियाँ लेकर आए हों। पहले तो वे जैविक जीवन जीने के लिए बाध्य थे। परिवार और कुटुम्ब तब तक बने ही न थे। लेकिन कालांतर में सहयोगी, सहकर्मी, सहभोगी और सहयात्री होकर, धीरे-धीरे एक दूसरे की निकटता और सामीप्य पा सके। ऐसे ही क्रम में वे एक दूसरे के आकर्षण और विकर्षण के केन्द्र बनते गये और जब जमीन जायदाद अपनी कर सके, तब वे भी एक दूसरे को अपनी आत्मीयता का अंश बना सके। ऐसे दीर्घकालीन संघर्षशील जीवन में रहते हुए, उसे साथ-साथ भोगते हुए अपनी सौन्दर्य और प्रेमपरक दृष्टि निखार और सँवार सके। जो सौन्दर्य केवल नारी का अपना था, वह काल-क्रम में उसके सहकर्मी और सहभोगी नर का भी हो गया और परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार से प्राप्त सौन्दर्य से नर और नारी में एक दूसरे के प्रति जो आत्मीयता बनती गयी, वही प्रेम की अनुभूति का आकार लेती गयी। यह आवश्यक नहीं था कि हर एक नर और नारी उतनी ही तीव्रता और आवेग से एक दूसरे के सौन्दर्य से अभिभूत होते और वैसी ही उत्कटता से एक दूसरे को प्रेम करते। इसीलिए सौन्दर्य और प्रेम के साथ जीवन जीते हुए भी नर और नारी अपनी-अपनी अलग-अलग पहचान बनाये रख सके, परिवार जैसे-जैसे बनता गया और जैसे-जैसे समाज बढ़ता गया वैसे-वैसे सौन्दर्य और प्रेम की भावनाएँ भी नैतिकता और अनैतिकता के घेराव में अपना मूल जैविक रूप बदलने लगीं और उनका सामाजिक रूपांतरण होने लगा।

साहित्य में भी सौन्दर्य और प्रेम की अभिव्यक्तियाँ, तदनुरूप आदिम जैविक प्रवृत्तियों से परिष्कृत होती हुई, स्वाभाविक रूपांतरण को प्राप्त

हुई। काव्य की रचना नर ही ज्यादातर करता आया है, नारियों ने कम ही काव्य की कृतियाँ रची हैं। वे शिक्षित नहीं थीं, परिवार के पालन-पोषण में अपना जीवन खपा देती थीं। मातृसत्तात्मक समाज में अवश्य ही नारियों का प्रमुख हस्तक्षेप रहा है, फिर भी उस समाज के नर के नारी के सौन्दर्य की जो कल्पना की थी, वह दुर्गा, काली आदि देवियों ने रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। इसके विपरीत पितृसत्तात्मक समाज में नर ही समाज का नियंता था और वही नारी को उसके विभिन्न रूपों में देखता और वैसे ही चित्रित करता था।

इसीलिए संसार की सभी भाषाओं के काव्यों में नर द्वारा निर्मित काव्य में नारी की देहयष्टि के अंग-प्रत्यंग का वर्णन मिलता है और यह भी मिलता है कि नर ने अपनी नारी को व्यापक और वृहत्तर भावभूमि पर पहुँचाकर उसे प्रकृति के रूप-बिम्बों से और भी मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यंजित किया। इसीलिए पर्वत और उरोज एक जैसे हुए, जंघाएँ कदली खंभ और सरिताओं की धाराएँ हुईं। अन्य अंग भी इसी प्रकार प्रकृति के रूपालंकरण पाते चले गये।

संघर्षशील आदमी घर से बाहर जीवन की लड़ाई लड़ता था और अनेकानेक विपत्तियों का सामना करता था और जब घर आता था, तब अपनी नारी के सानिध्य में एक होकर अपनी थकान और अपने शैथिल्य को दूर करने के लिए नारी सौन्दर्य से अपने को अभिषिक्त करता था और निश्छल और निष्कपट हृदयोदगार से अपने प्रेम की आंतिरक अनुभूतियों को व्यक्त करता था। इसी प्रकार से काव्य में नारी का नानारूपेण चित्रण होता गया।

संस्कृत में, मैथिली में, बंगला में, हिन्दी में, और विभिन्न प्रांतों की विभिन्न भाषाओं में, बोलियों में, नारी का सौन्दर्य ही प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है। काव्य में इस परंपरा के सुन्दर आख्यान और गीत और पद बहुसंख्यक हैं। सभी उनसे परिचित हैं।

मेरे परिवार में भी मेरे पिताश्री काव्य प्रेमी होने की वजह से आजीवन ऐसे काव्य से सम्पृक्त होते रहे और प्राचीन कवियों की रचनाएँ सराहते और गुनगुनाते रहे। उनके पास जयदेव, विद्यापति, कालिदास, पद्माकर, मतिराम, बिहारी, हरिओंध, रत्नाकार आदि कवियों के काव्य ग्रन्थ भी थे। मैं लकड़पन में सुनता, तो मुझे वह स्वर-

प्रवाह आकर्षित करता और मैं, न समझते हुए भी उनसे प्रभावित होता रहा। जब कुछ हिन्दी का ज्ञान बढ़ा, तो मैंने उन ग्रन्थों को छुप-छुपकर पढ़ना शुरू किया और परिणाम यह हुआ कि मैं काव्य में प्रतिम्बित नारी के सौन्दर्य का रसज्ज हो गया। उसी का परिणाम है कि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के पहले मैं उसी प्रकार के सौन्दर्य की स्वयं भी कविताएँ लिखने लगा।

इस संग्रह में अधिकांश कविताएँ उसी प्रवाह की मिलेंगी। भाषा भी अलंकृत हुई है। छंद भी उस सौन्दर्य से आवेष्टित हुये हैं। अलावा इसके, एक कारण और भी था—मेरे इस प्रकार के सौन्दर्य से अभिभूत होने का। मुझे खाते-पीते परिवार में जन्म मिला। पेट भरने के लिए संसार में संघर्ष नहीं करना पड़ा और वकील होने तक इससे निश्चित रहा। यदि जीवन-यापन की समस्या लड़कपन में ही पैदा हो गयी होती, तो संभव है मैं इस पारंपरिक काव्य-संसार से मोहाविष्ट होने पर भी उसे कुछ दिन के बाद छोड़ देता।

अब इस उमर (73) वर्ष में मेरी इन कविताओं का यह संकलन प्रकाशित हो रहा है। मैं अब बहुत दिनों से ऐसी कविताओं से अलग हो गया हूँ फिर भी मेरे काव्य-विकास के क्रम के आधारभूत तत्वों का सबके सामने प्रस्तुत किया जाना निहायत जरूरी है, ताकि काव्य-मर्मज्ज यह देखें और परखें कि मैं बाद का प्रगतिशील कवि कैसे वैज्ञानिक जीवन-दर्शन अपनाकर संघर्षशील हुआ और अपने को उस परम्परा से अलगकर, प्राकृतिक परिवेश से अपने काव्य का श्रोत खोज सका और अपने युग के सत्य को पकड़ सका तथा आदमियों के जीवन में यथार्थ की परिणतियों से विचलित हुआ और फिर अपने देशवासियों को, प्रगतिशील विचारों की—सत्य की पकड़ की, सार्थक और सजीव कविताएँ दे सका। आदमी होते हुए भी आदमी आदमी नहीं रह गया है। यह बात मुझे मर्थती रही है और मैं उसे भीतर-बाहर से इस मंथन से उबारने के लिए बराबर सोच पैदा करता रहा। इसी सोच का परिणाम मेरे बाद की दूसरे संकलनों की कविताएँ हैं।

मूलतः मैं पत्नी प्रेमी रहा हूँ और मेरी प्रेम की कविताएँ उन्हीं के प्रेम और सौन्दर्य की कविताएँ हैं। कही-कहीं, कभी-कभी कुछ कविताएँ ऐसी झलक दे जाती हैं, जैसे कि मैं उनके अलावा भी दूसरी

नारियों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा हूँ। बात ऐसी नहीं है। जो भी ऐसा लिख गया हूँ, वह केवल पारंपरिक काव्य-संस्कार का परिणाम है, जो घर की चहारदीवारी से बाहर पहुँच गया है।

कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं कि जो दूसरी नारियों के सौन्दर्यों को व्यक्त करती हैं। ऐसा करना मैंने संसार के किसी भी देश के काव्य में गुनाह माना जाता नहीं पाया है। पहले परकीया प्रेम का उदात्तीकरण कर दिया जाता था। राधा के प्रति कवियों का प्रेम-वर्णन इसी का उदाहरण है। कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम इसी प्रकार का है।

मैंने अपने प्रेम को इस प्रकार के परकीया प्रेम के उदात्तीकरण से अलग रखकर सरल सहज और खुले रूप में स्वकीय प्रेम को मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया है। मुझे बराबर यह महसूस होता रहा है कि मेरे ऐसा करने से कोई अपराध नहीं होगा, बल्कि जिसके प्रति मैं अपना प्रेम व्यक्त कर रहा हूँ, वह मुझसे घनिष्ठ से घनिष्ठतर होती हुई, पूर्णरूपेण मेरी आत्मीय बन ही जायेगी।

आज, मेरे ऐसे प्रेम की कविताएँ हिन्दी-काव्य में मिलना दुश्वार हैं। अब तो नये-नये उभरते स्वर वाले कविगण भी परकीया आकर्षण से ही अभिभूत होते हैं और क्षणिक आवेश की रचनाएँ देकर पारस्परिक चुहलबाजी कर लेते हैं। ऐसी कविताएँ सामाजिक दायित्व से हीन कविताएँ होती हैं, और ऐसे कवि न घर में प्रेम को प्रतिष्ठित कर पाते हैं, न समाज में। मेरा ऐसा कहना बहुतों को बुरा लगेगा, लेकिन यह कटु और निर्मम सत्य है। मेरी प्रगतिशीलता में इसका कोई स्थान नहीं है।

इस संकलन के तैयार करने में पूरा योगदान आरम्भ से अंत तक डॉ० अशोक त्रिपाठी का रहा है, वही इसे तैयारकर काट-छाँटकर सवक्तव्य मेरे प्रकाशक को दे सके हैं, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने यह दायित्व श्रम और शक्ति से सम्पन्न किया है।

15 अगस्त, 1984
सिविल लाइन्स, बाँदा।

—केदारनाथ अग्रवाल

घर घर मैंने कहा पुकार

(1)

घर घर मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!
सके न जब वे स्वर पहचान
तब बोले होकर हैरान,
'तू तो है हमको अनजान
दें हम कैसे छाया-दान!'
हुआ न फिर भी मुझे विकार
खा कर हार।
घर घर मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!

(2)

भरे अधर-तट में मद-गान,
नयन-सीप में छवि-मणि-प्रान,
सुघर केश लहरों में तान
विमल नेह का जाल सुजान;
फिरी खोजती तन मन बार
प्रियतम द्वार!
घर घर मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!

(3)

सहसा निशि में अवसर जान
आया वह राजर्षि समान
शान भरी छेड़े मुसकान,
थी मैं चित्रित चकित महान;
स्वजन-लोक के मुँदे किवार,
मम मन मार;
फिर से मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!

24-1-1932

कर जोरि करैं अब एती बिनैं

कर जोरि करैं अब एती बिनैं नहिं ध्यान मैं चूक हमारी जु लाइये;
हम ठाढ़े ठगे रहे पेखिबे कों पुनि का इत स्वागत साज सजाइये।
सब भाँति तिहारे बने हम तौ पद पावन आँकि हिये तट जाइये;
अवलोकि जिन्है निज नैनन सों तुवधाम को सूधे सदा चलि आइये।

1-3-1932

लालसा लोकि पै बैठि सदा

लालसा लोकि पै बैठि सदा वहि ओर की छोर निहारतीं हैं।
पार न पाइ सकैं दुखियाँ, तब आकुल है घबरावती हैं।
मौन हैं, बैठि सकैं पुनि क्यों! उन्हें देखन को कलपावती हैं।
आँसुन को धरि रूप अली अँखियाँ अब धूरि पै धावती हैं।

1-3-1932

कल्पलता सी सुधर सलोनी

कल्पलता सी सुधर सलोनी,
कामधेनु सी न्यारी है,
अमृत सी चिर जीवनदायिनि,
प्राणों से भी प्यारी है,
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
दुइज काल में पूरे शशि सी
मैंने तुझे निहारा है,
छवि पर तेरी मोहित होकर
तन-मन आज बिसारा है;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
नवल अंग नन्हा सा तेरा
तितली सा दिखलाता है,
पानी की मछली-सा चंचल
तब स्वभाव मनभाता है;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
सोने से सपने के तरु पर
सुख की चिड़िया आती है;
तब पलकों के दल में छिपकर
साँझ समय सो जाती है।
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
फिर प्रभात से कुछ पहिले ही
आँखें खुलतीं जब तेरी,
फुदक फुदककर सारे घर में

करने लगती वह फेरी;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
प्रभु से मेरी यही विनय है—
विमल बने गंगा जल सी,
अमर बने तू राम नाम सी,
पुण्यमयी तुलसी दल सी,
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

1-3-1932

कोमल कुसुम से भी

(1)

कोमल कुसुम से भी लाल हैं ललित अंग,
मोहन है रूप प्यारा, घर का उजाला है।
काले धुँधराले बाल लगते मनोहर हैं,
नैन हैं कमल जैसे, प्रेम का पियाला है।
गोल हैं गुलाबी गाल दंत की छटा है न्यारी,
मंजुल गले में हार मोतियों का डाला है;
सुकवि 'बालेन्दु' सुख शान्ति का निवास मंजु
गोद का अमोल लाल मृदु बोल वाला है॥

(2)

खुलकर खेलता है दिन भर आँगन में
बोल बोल तोतले सदन भर देता है।
होकर मुदित मन करता है मनमानी
देख गुरुजन को तुरन्त हँस देता है।
सुकवि 'बालेन्दु' आता दौड़कर गोद में है,
लगता है कंठ से अनन्त सुख देता है।
देखता है भाव भरे लोचन में रूप लिये,
पल में पलक मार जादू कर देता है॥

3-4-1932

दूर होके मुझसे

दूर होके मुझसे वे पाते हैं न चैन कभी,
ध्यान उन्हें प्रतिपल मेरा बना रहता।
होकर अकेले सुख मिलता मुझे भी नहीं,
आँखों में समाया उनका ही रूप रहता।
छाये रहते हैं घन आशा के उनके उर
मानस में मेरे भाव सिंधु है लहरता।
दोनों ओर लग तो गई है अब प्रेम आग,
देखें कौन बुझता है और कौन जलता ॥

17-6-1932 (बाँदा)

फूलो फूलो फूलो फूल!

फूलो फूलो फूलो फूल!
पंखुरियों के पंखों पर तन,
तरु के कर के मंजु मुकुर बन,
रम्य रुपहले पूर्ण चन्द्र बन,
रजत कटोरी, दुग्ध-ध्वल बन;

फूलो फूलो फूलो फूल!
गोले गोले इकट्क लोचन—
भोले भोले बाल बदन बन,
कोमल-कोमल नवल-नवल बन,
विकसित, सुरभित, सरस, सरल, बन,
हरे-हरे-पत्तों से मिलकर,
तरु मानो जलधार बहाकर,
सटकर, गुथकर, एक अंग कर,
तुम्हें बिछा लें निज निज उर पर;

फूलो फूलो फूलो फूल!
महके अनिल सुरभि से भरकर,
सागर-सरिता और सरोवर;

थल महके, महके वर-अम्बर,
दश-दिशि महके महर-महरकर;
आवें पागल - प्रेमी - मधुकर,
बरबस खिंचकर और पुलककर,
बेबस बेसुध गुन-गुन स्वर कर,
गावें गीत प्रणय के मृदुतर;
फूलों फूलों फूलों फूल !

15-9-1932

इतनी सुन्दर यह महफिल

(1)

इतनी सुन्दर यह महफिल क्यों मालिन ! आज सजाई ?
चहल-पहल कैसी यह मालिन ! कैसी धूम मचाई ?
मधु-मिश्रित-स्वर में खग गन क्यों देते तुझे बधाई ?
उषा-उर्वसी के मुख पर क्यों सुख की लाली छाई ?

तेरी बगिया में यह कैसा
मालिन शुभ अवसर आया ?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया ?

(2)

पौधे-पौधे में यह कैसी छाई है हरियाली ?
हँसमुख है कोई सूरत तो कोई है मतवाली !
सुषमा से सारे विटपों की शोभित डाली-डाली !
पत्ती-पत्ती पागल हो-हो गाती दे-दे ताली !

तेरी बगिया में यह कैसा
मालिन शुभ अवसर आया ?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया ?

(3)

रंग-बिरंगे फूलों की यह क्या तसवीर बनाई ?
लखकर तेरी कुशल कला को, आँखों में छवि छाई !
गेंदा पीला फूल रहा है, जूही उज्ज्वल फूली ?

पाटलि, बेला फूल रहे हैं, गुलमेंहदी मद-भूली?
तेरी बगिया में यह कैसा
मालिन शुभ अवसर आया?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया?

(4)

इस सब का था यही प्रयोजन किसी तरह तू आये;
सुन्दरता बगिया की देखे वशीभूत हो जाये!
'प्रेयसि!' कहकर मुझे पुकारे अपने हृदय लगाये;
'प्रियतम!' कहकर तुझे पुकारूँ मैं भी हृदय लगाये!
तेरी बगिया में यह कैसा
मालिन शुभ अवसर आया?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया?

16-9-1932

निशि आई

(1)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !

संध्या की अनुराग रागिनी
सुख-सुहाग की अरुणाई,
पुष्करिणी के जल में झार झार
मुँदे कमल में कुम्हलाई,
अकुलाई, वह पाताल समाई !

निशि आई, तू न मोहिनी आई !

(2)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !

चूम चूमकर तम की उँगली
आँख मही की धुँधलाई,
परिचित की आकृति भी उसको
निरी अपरिचित दिखलाई,
चकराई, वह अतिशय भरमाई !
निशि आई, तू न मोहिनी आई !!

(3)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !

केश सुगंधित, मद-अभिमंत्रित,

यौवन चर्चित, भर अँगडाई,
सुमनों के दोलांचल में चल
वायु विजन में लहराई,
इठलाई, कर अभिसार सिधाई!
निशि आई, तू न मोहिनी आई!

(4)

निशि आई, तू न मोहिनी आई!!
क्षण क्षण आभा क्षीण हो रही,
प्राण-वर्ति जल अधियाई,
रुकता सा अब श्वास वेग है,
नेह अवधि अन्तिम आई;
दुखदाई, लो वह लौ सिहराई!
निशि आई, तू न मोहिनी आई!

28-11-1932

उड़ चल प्राण

उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !
प्रलय-पीड़ा का मंत्र उचार,
समय-सफरी की चंचल चाल
बना तू मत अब बिरही प्राण !
विषम रे निश्चल मेरु विशाल;
मन का तान पंख वितान।

उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !
असित-सरसिज-संध्या-पथ चूम,
सदन में आया तेरे दूत,
अरुण-कण पदप-नख में अवशेष;
रक्त-श्रम से मुख-कंज प्रसूत;
मौन शब्दावलि, तृष्णाहीन,
हृदय में सुख सावन की धार;
इसी से तो कहती सुकमार !
बुला भेजा प्रिय ने उस पार।

शीघ्र महान प्रणय-विधान !
उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !

9-1-1933 (इलाहाबाद)

जाग जाग प्रेयसि

जाग जाग प्रेयसि मैं रोया!
पावस का पहने घन अंचल—
विपुल-वेदना का बरसा जल—
उफ ! मैंने रजनी-कमली का ताग-ताग प्रतिवार भिगोया;
जाग जाग प्रेयसि मैं रोया!
गूँगे प्रतिध्वनि-हीन पुलिन पर
गलित-दलित पतवार समझकर,
हाय ! समय नाविक ने मुझको अन्धकार में यों ही खोया;
जाग जाग प्रेयसि मैं रोया!
निष्क्रिय रे जग लुंठित-असि सम !
उर मेरा गतिशील विकल तम !
भय है ! भय है ! मृत्यु मुझे दो, रहूँ मूर्छना मोहित सोया;
जाग जाग प्रेयसि मैं रोया!

26-3-1933

मैं पागल हूँ

मैं पागल हूँ, पिये हुए हूँ कविता का मट-प्याला,
अधरें पर मेरे झूमी है रस-कन की मधु-शाला;
फूला है शोणित सरिता में मस्ती का गुल्लाला;
उच्छ्रवासों की घनीभूत हो छाई वारिद-माला;
रोम-रोम ने खोल दिया है परिमल-पुलक-खजाना;
कौन न जाने आ बैठा है आँखों में दीवाना?
हुड़क रहा है प्रिय-कपोल-मन प्रेमी-कंठ फुलाये;
शशि कहता है 'तुझे चूम लूँ आ, मेरे मस्ताने!'
मैं कहता हूँ इधर देख तो, होगा पूर्ण बिगाने!
नभ सम्हालता आया प्रतिदिन तेरा रूप अधूरा,
रोज सम्हालेगा तब कैसे तुझको पूरा पूरा?
'प्रिय! गुदगुदी न और बढ़ाओ' कहती वायु, 'विचारो,
लोट-पोट होने से देखो कलियाँ खिलों हजारों;
कल से कौन सजायेगा फिर भूतल का घर प्यारा,
आज खिलेगा यदि कलियों का वन का वन यह सारा'
ठहर, नदी से मैं कहता हूँ, यों ही क्यों इतराई?
अरी, सीख पहले तो लेना मेरी सी अँगड़ाई।
समझो नहीं अकेला मुझको, देखो यह परछाई,
बरसों से लाखों की बस्ती मैने यहीं बसाई।
सुन रक्खा है और कई ने पहले तुम्हें पिलाई,
पी लो अब निर्दोष हाथ से, कैसी आग लगाई?
झूठे का हो बुरा, बुरा हो जिसने बात बनाई,

मैं कब कहता हूँ यह कविता मैंने तुम्हें सुनाई?
होगा कोई पागल होगा, मेरा नाम लगाया;
किधर गया वह? इधर गया क्या? रुका न क्यों मैं आया?
रोक लिया क्यों तुमने मुझको? देख उसे तो लेता;
बतलाता फिर उसे कहीं जो वह दिखलाई देता।
अब हँसते हो, मुझे बुरा है लगता शोर मचाना;
कैसा था वह मुझे बताना तुमने तो पहचाना?

19-5-1933 (बाँदा)

कुंचित कुन्तल

कुंचित कुन्तल को सहलाती,
मँडराती आँखों में छाती;
तन की लहरी को दुलराती,
मोहित-सी मुझको कर जाती।
आती री यह बेणु बजाती !

ब्रजपति का सा रूप सजाती,
नव-वय का उल्लास जगाती;
मधुराधर का रस बरसाती,
पुलकालिंगन में कस जाती।
आती री यह बेणु बजाती !

8-10-1933 (इलाहाबाद)

मधुकृष्टु के पागल प्यार

मधुकृष्टु के पागल प्यार जलो

उपवन की कलियाँ कुम्हलाई,
बल्लरियाँ पल पल अकुलाई,
यौवन की सरसी अलसाई,
क्षिति तल की आभा सकुचाई;

मधुकृष्टु के छलिया प्यार जलो
आलिंगन में ले दुख-बंधन,
चुम्बन में विष का आस्वादन,
नयनों में अवसाद-रुदन-कन
जीवन में ले तप्त तृष्णित मन;
मधुकृष्टु के पागल प्यार जलो

9-10-1933 (इलाहाबाद)

ओ पावस की मेरी रात

ओ पावस की मेरी रात!
आज देखता हूँ मैं तुझमें है असीम उल्लास;
कामिनियों के कच लहराये,
मोरों के प्रिय पर फैलाये,
यौवन के मद में इतराये,
दल पर दल बादल घिर आये;
अपनी मस्ती में इतराते,
झूम झूम झुक झुक ये जाते,
चूम चूम द्युति को, मँडराते,
ग्वाल-बाल-सा रास रचाते;
फिर भी नहीं समाता नभ में तेरा मधु उल्लास।
ओ पावस की मेरी रात!

उन्मादित वारिद-माला से,
कल्लोलित घन-मधुशाला से,
मृदु रसाल का, चुम्बन का रस,
अंगूरों का यौवन का रस,
अधरों का पीयूष तरल नव,
जीवन के कन कन का आसव,

उमड़ उमड़कर सरस रहा है,
खूब झमाझम बरस रहा है;
भीगी मिट्टी-महका कन-कन ज्यों महुए की बास,
ओ पावस की मेरी रात !

पुलकीं शत्-शत् रोमावलियाँ,
भीगीं मन-मधुवन की गलियाँ;
जागा प्राणों में, नव-स्पन्दन,
उर में नव-वय का अलि-गुंजन,
वृन्दावन का नर्तन-कीर्तन,
ब्रज-बालाओं का सम्मोहन;
सहज सरल मैं भूल गया तन,
फूल उठा जैसे रसाल बन;
पंचम-स्वर में तू कोयल-सी कुहुकी मेरे पास।
ओ पावस की मेरी रात !

पी गुलाब-गुल्लाला-प्याली,
ले दिग्वधुएँ मद-मतवाली,
पीली सरसों हाथ लगाये,
ज्यों बसन्त के दिन फिर आये;
मधुरस मुग्धा ने छलकाया,
मृग-नयनों ने तीर चलाया,
विरहा चरवाहे ने गाया,
मन का पागल प्रेम बताया;

एक दूसरे को तूने दे दिया पुलक-निश्वास ।
ओं पावस की मेरी रात !

तड़पी बिजली-भय लहराया,
सुख ने मोहक रूप छिपाया;
चीतकार कर उठा पपीहा
हृदय चीरकर पी ! हा ! पी ! हा ! ;
इसी करुण-स्वर में रो रोकर,
जग ने मुझको दुखी बनाया,
पीड़ा को शाश्वत बतलाया;
बिदा, बिदा, ओ मधुर यामिनी तेरा आज प्रवास ।
ओं पावस की मेरी रात !

9-10-1933 (इलाहाबाद)

प्रिये! मलिन है मेरा प्रात

प्रिये! मलिन है मेरा प्रात।
क्यों अवगुंठन नहीं हटातीं?
मुख की अरुणा नहीं दिखातीं?
उर की कलियाँ नहीं खिलातीं?
खिलकर सुरभित नहीं बनातीं?
प्रिये! व्यथित है मेरा प्रात।

क्यों कलरव तुम नहीं सुनातीं?
जीवन-तंत्री नहीं बजातीं?
आँखों में आ नहीं समातीं?
उत्सुक-उन्मद नहीं बनातीं?
प्रिये! मलिन है मेरा प्रात।

2-11-1933 (इलाहाबाद)

रजनी का प्रेमी

रजनी का प्रेमी है कौन?
आश्चर्य-चकित तारक कहते।
सुन्दरता का प्रेमी कौन?
आश्चर्य-चकित मानव कहते।
हम रजनी के प्रेमी मौन,
विगत-निशा-हत् तारक कहते।
हम सुन्दरता-प्रेमी मौन,
विमल-रूप-हत् मानव कहते !!

1-1-1937

प्यारी! तारों का आलोक

प्यारी! तारों का आलोक
हर सकता है तम का शोक।
प्यारी! अपना प्रेमालोक
हर सकता है जग का शोक।

1-1-1937

मैं तकती हूँ

मैं तकती हूँ नील गगन पर
घने घिरे घन घोर,
नव परिधान पहन कर मैं भी
होऊँ रूप-विभोर !

बार बार अब मैं सुनती हूँ
गुरु गर्जन गम्भीर !
प्रियतम ! प्रेम मिलन को तुझ सी
मैं भी अधिक अधीर !

विद्युत की रेखायें छूतीं
दिशि-दिशि-तल की कोर !
तेरे पथ-सी मेरी आशा
आज अनन्त अछोर !

सुन्दर केकी नाच उठे हैं,
अतुलित पुलक हुलास !
तू आया है अतिशय सुख ले
अब बसुधा के पास !

झर झर करती अब तो झरती
निरुपम मधुर फुहार !
तूने मेरा परिणय पाया,
मैंने तेरा प्यार !

15-3-1937

मेरी रूप-कुसुम सुकुमार।

मेरी रूप-कुसुम सुकुमार।
पावस के घन घिरे मनोरम
बरस रही जल-धार
मैं हूँ मधुप तुम्हारा, प्यासा,
टूट रही जीवन की आशा,
आओ, तुम्हीं पिलाओ, अमृत
अधरों का अविकार,
मेरी रूप-कुसुम सुकुमार।

16-3-1937

कोयल कहती मैं गाऊँगी मैं गाऊँगी ।

कोयल कहती मैं गाऊँगी मैं गाऊँगी ।
प्यारी कहती मैं आऊँगी मैं आऊँगी ॥
रजनी कहती मैं ढक लूँगी मैं ढक लूँगी ।
प्यारी कहती मैं सज लूँगी मैं सज लूँगी ॥
विद्युत कहती मैं देखूँगी मैं देखूँगी ।
प्यारी कहती मैं भेटूँगी मैं भेटूँगी ॥
लतिका कहती मैं फूलूँगी मैं फूलूँगी ।
प्यारी कहती मैं चूमूँगी मैं चूमूँगी ॥

16-3-1937

यह उजियाली रात

यह उजियाली रात आज सिंगार किए जो हँसती आई,
धवल चाँदनी जग में जिसकी कोमल सेज बिछाती, छाई;
जिसे देखते ही मैं रीझा, हुआ रूप का लोभी पागल,
गीत सुनाकर, गाकर मोहा थाम लिया जिसका प्रिय आँचल;
सोई मेरे साथ, प्रेमिका होकर मेरी सुख से सोई;
खुले वक्ष अंगों से जिसके मिलकर जीवन-सीमा खोई!
छोड़ चली अब मुझे वही हा! निराधारकर छोड़ चली अब;
केन-किनारे चट्टानों पर कोमल नाता तोड़ चली अब!
स्वयं चिह्न मेरे चुम्बन का ले कपोल पर चली गई वह।
मेरे हित कुछ ओस बूँद, उफ! ज्वाल जलाकर चली गई वह !

17-3-1937

उसके अंगों के छूने की

उसके अंगों के छूने की
अब विद्युत दौड़ेगी इनमें
उसके ओठों के चुम्बन की
अब मदिरा उतरेगी इनमें
उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजाकर संग सुलाया
संग सुलाकर अंग मिलाया
ओठों को रस पान कराया।

18-3-1937

ऊषा कंचन वक्ष दिखाओ

ऊषा कंचन वक्ष दिखाओ
उसने विद्रुम वक्ष दिखाया
सौ-सौ सूरज साथ जलो तुम
उसने दीपित रूप दिखाया
भेंटो लहरों कसकर भेंटो
आलिंगन सुख मैंने पाया।
रात लौट आ! रात लौट आ!
अब तन ढँकने का क्षण आया ॥

19-3-1937

तीन फूल

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये ।
पथ पर पड़े विवश-से हत-से शोकाकुल बिसराये ॥
तीन फूल ये जिनको मैंने जग की आँख बचाये ।
लोक-लाज के भय से कंपित अतिशय शीघ्र उठाये ॥

बस्त्रों के भीतर कौशल से जिनको पूर्ण छिपाये ।
दौड़ा मैं तजकर कोलाहल तन मन प्राण भुलाये ॥
आया निर्जन में जिनको ले पावन प्रेम ढृढ़ाये ।
पागल हूँ जिनको पाकर मैं प्राणों-सा अपनाये ॥

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये ।
कोमल पलकों ने झुक जिनके रजकन मलिन हटाये ॥
अन्तस्तल की मृदु कम्पन ने जिसमें प्राण पिन्हाये ।
पंखुरियों के दल के दल सब मैंने राग-रँगाये ॥

खिलकर, नयन-कमल ने मेरे रूप-बिन्दु छलकाये ।
ये जिनके अन्तर में सौरभ, मधु रस बनकर छाये ॥
प्रेमी प्राण जिहें विकसित लख फूले नहीं समाये ।
रस-लोभी मधुकर-से जिन पर गुनगुनकर मँडराये ॥

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये ।
रामचन्द्र बन मानो मैंने सिय के कंगन पाये ॥
तीन लोक बामन-से मानो उस दिन मैंने पाये ।
तीन रूप ईश्वर के मानो उस दिन मन में आये ॥

एक पुष्प उर्वर हत्तल में प्रेम-सुधा बरसाये।
उद्भासित करता है विधि-सा भाव अमर अपनाये॥
पुष्प दूसरा प्रिय वरदायक हरि-सा रूप सजाये।
भाव अर्थ गम्भीर गिरा में भरता मधु उफनाये॥

पुष्प तीसरा हर-सा सन्तत योगी वृत्ति दृढ़ाये।
काम-वृत्ति को मर्दित करता तप की रज लिपटाये॥
गिरा उमा कमला के मानो चरण चूम थल आये।
सुख के सुन्दर समारोह में, तीन सुमन विकसाये॥

तीन फूल ये तीन फूल जो-एक अनिंद्य कुमारी।
खोंसे थी कुन्तल-प्रान्तर में-ऊषा-से छवि धारी॥
अंग-अंग के रूप-सिन्धु में प्रेमानल प्रकटाते।
नव रस, नव रंग, नव सुगन्ध की लहरें थे उफनाते॥

केश देश के अन्ध-भाग में प्रेम-पुष्प में फूले।
तीन अमर नर के समान थे मृत्यु पाश में झूले॥
चमक रहे थे काल-मेरु पर त्रय उडु सम मन हारे।
लीन सत्य के चिर चिन्तन में अपलक नयन उघारे॥

प्रलय-सिन्धु में डूब चुके हों देश-प्राण घबराते।
तीन खण्ड सम महाकाव्य के फिर भी थे उतराते॥
अनायास खिंच गयी, सुन्दरी युवती की भ्रू रेखा।
इन्हें शीश से हटते मैंने कर-पल्लव में देखा॥

तीन लोक के राजे आये जनक-प्राण-प्रण रखने।
मानों भ्रू-धनु खण्ड-खण्डकर जनक-सुता को वरने॥
मानों हिमगिरि के अंचल में वर वसन्त-सुख छाया।
भ्रू-विलासकर कामदेव ने हर पर तीर चलाया॥

एक बार तो कर में लेकर विधि ने इन्हें बनाया।
मेघ-मोहिनी श्याम लता के अंचल में दुलराया॥
एक बार तो प्रकृति-प्रिया को तजकर कर में आये।
केश-देश के अन्ध-भाग में त्रय उड़ सम मुसकाये॥

एक बार फिर उस दिन कर में अनायास सुकुमारी।
लिये, परखती थी सुन्दरता, किये रूप उजियारी॥
मुख की परम अलौकिक आभा पंखुरियों पर छाई।
किन्तु प्रभा के विमल वर्ण पर कुछ न मलिनता आई॥

अधरों ने इन पर प्रतिबिम्बित प्रेम-लालिमा पाई।
किन्तु न उसमें भी पतझड़ की शोक-कालिमा आई॥
आँखों ने पलकों को खोले मृग-मद-सुरभि उड़ाई।
किन्तु सौगुनी मादकता पुष्पों ने अधिक बढ़ाई॥

रूप-तुला पर तोला इनको नव-नव उपमानों से।
किन्तु तोल में हलके ठहरे स्वप्नों-मुसकानों से॥
इसी परीक्षा के अवसर पर प्रिय पुष्पों से कुछ क्षण।
पहले पहल किया युवती के चन्द्रानन का दर्शन॥

दर्शन था युवती के मुख का या कि उषा का दर्शन।
दिशिदिशि रूप-राग विकसित था, होता था मधु वर्षण॥
या कि सुरंग-कल्पना-सिन्धु में भाव-नाल पर शोभित।
अनुपम रूपक उपमाओं की लहरों से आलोड़ित॥

शतदल-कमल-हृदय कविवर का विलसित था अति कोमल।
वाणी के पद-तल झरता था कविता का नव परिमल॥
या कि प्रलय के तरल तार पर जीवात्मा का दर्पण।
परमात्मा के अतुल रूप का करता था शुचि चित्रण॥

9-4-1937

दूर देश प्राण चलो

दूर देश प्राण चलो! प्रियतम सुधि आई;
करभ-सदृश श्याम, मयद,
तड़ित-संग पंगु-पयद
गुरुवर गिर-शिखर गये पावस-सुधि आई;
दूर देश प्राण चलो! प्रियतम सुधि आई!
बाँह खोल, भ्रू, मरोर,
लाज छोड़, कर सु-रोर,
सरित-भरित त्वरित चलीं नीरधि-सुधि आई;
दूर देश प्राण चलो! प्रियतम सुधि आई!
स्वेद, कम्प, पुलक, प्रीत
विजित वल्लरी विनीत
नवल मुकुल-भाल खोल दे र ही बिदाई;
दूर देश प्राण चलो! प्रियतम सुधि आई!
एक एक छूट चले,
सकल पाश टूट चले;
अमल, धवल, फैल चली प्रेम की निकाई;
दूर देश प्राण चलो! प्रियतम सुधि आई!

10-5-1937

परम सुन्दरि

परम सुन्दरि !

मिल गई;

निरूपम अचंचल झलक निरमल

जो न अब तक

स्वप्न में तक

मिल सकी पल भर;

रहा मैं विचल विह्वल !

मिल गई !!

खुल गई;

खुलकर मृदुल तर पलक प्रतिपल

सीप-सी रह

जो न दुख सह,

खुल सकी पल भर;

रहा मैं सुप्त, निष्फल !

खुल गई !!

भर गई;

दृग-मोतियों में अमित सित स्मित

जो न निशिकर-

की किरन वर
भर सकी पल भर,
रहा मैं अंध अविदित !
भर गई !!

रूप-निर्झरि !
मिल गई निरुपम अचंचल झलक निरमल
मिल गई !!

8-10-1937

आती हूँ

आती हूँ तुझसे मिलने मैं,
तेरी सदा कहाने;
तेरी अगणित सुन्दरियों में
अपना नाम लिखाने !
मैं कुरुप हूँ, रूप-सिन्धु में
कभी न विधु मुसकाया !

आ प्रभात के स्वर्णकार ने
कभी न रंग चढ़ाया।
कभी न मेरे पैर पड़े हैं
पृथ्वी से उठ ऊपर;
धूल चूमते फिरा किये हैं
गली-गली में जाकर !

जगह जगह थककर बैठी हूँ
मैली मेरी धोती !

पानी पी-पी कई घरों का
घूमी रोती रोती !

राजा तेरी अन्य रानियाँ
तुझ पर खूब हँसेंगी;

तुझको मेरे साथ देखकर
मुझ पर कोप करेंगी !

मेले में फिर राजमहल के
रोयेंगी दुख सारे;

कर देंगी बदनाम हमें वे

इसी तरह से प्यारे !
रूठ न जाना इस झगड़े से,
मुझे न ठुकरा देना;
सह लूँगी सब कुछ मैं उनकी,
सब तू भी सह लेना !
नहीं चाहिये मुझको उनके
रूप-रंग की काया;
नहीं रँगीला चीर चाहिये,
आभूषण मन भाया !
जैसी हूँ वैसी अच्छी हूँ;
यही रूप तो मेरा !
इसी सत्य के बल पर बचकर
देखूँगी मुख तेरा !
आती हूँ तुझसे मिलने मैं,
मुझसे नेह लगाना;
मेरे राजा ! मेरे स्वामी !
मेरे भी बन जाना !!

11-11-1937

कठिन विरह की रात है

कठिन विरह की रात है !
शस्य श्याम कोमल वसुधा के हत्प्रदेश पर
महाकार तम का विमूढ़-मति निष्ठुर निश्वर
बैठा दृढ़तर, प्राणहर
करता विषमाघात है !!
कुटिल कृत्य यह देख गगन सहमा हताश है ;
तारों का व्यापक-कुटुम्ब चुप है, निराश है,
खोई ज्योतित आश है !!
अतिशय दुख की बात है !
मृदुल पालकी कलियों की साधे हैं तरुगन,
जिस पर डाल ओहार खड़ा है हठी समीरण;
दुर्लभ दर्शन प्रेम-तन !!
आँसू की बरसात है !
मैं एकाकी, प्रियाहीन-जीवन प्रसार है,
तन में, मन में, अन्धकार ही अन्धकार है,
आती नहीं पुकार है !
ओझल सुन्दर प्रात है !!

12-12-1937 (लखनऊ)

गीत किसी प्यारे ने गाया

गीत किसी प्यारे ने गाया,
नींद चुराने तम में आया;
आँखें खुलीं, निहारता, बिन जाने पहचानता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया,
प्रीत-परीक्षा लेने आया;
रूप हृदय में झाँकता—मेरा सर्वस माँगता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया,
प्रेमालिंगन को ललचाया;
भरी जवानी हारता—मीठे चुम्बन वारता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया,
स्वर का बंदी मुझे बनाया !!

18-12-1937 (लखनऊ)

प्रेम-तीरथ

प्यारी ! मेरे जन्म-गाँव में,
जहाँ एक दिन, मेरे बाबा,
मुझको जन्मा देख, खुशी में
भीतर - बाहर दौड़ रहे थे;
मुझको पाकर सब भूले थे !
जहाँ, एक दिन मैं नादान
अम्मा की छाती से चिपका
पीता था बलदायक ढूध !

जहाँ एक दिन
आस-पास के सभी घरों से,
गूँज उठाता चैन न पाता,
आसमान को छूता-छाता,
महावेग कल्लोल महान
भूल गया था अपनी राह !
डोम बुलाये, द्वारे आये,
शहनाई तासा सब लाये,
हवा रागिनी रस में ढूबी
मस्ती में सब बस्ती ढूबी !!

प्यारी ! उसी लड़कपन वाले गाँव में—
जहाँ, चैत-बैसाख सबेरे से तपता है;

विकट घाम में, लूक-लपट में,
आँचर-डुला-बुलाती-छाँह में,
दौड़-दौड़ कर आती-पाती, गिल्ली-डंडा
गोली, खोखो, खेल हुडुडवा,
ऊँचा-नीचा खेल चुका हूँ;
बेर बहुत छककर खाये हैं;
हरे-हरे खेतों में जाकर,
मिट्टी के ढेलों पर बैठे,
तोड़-तोड़कर साग चने का खूब उड़ाया;
इमली खाई-कैथे खाये,
अमियों को हरदम ललचाये !
प्रिये ! जहाँ पर मैंने देखी—
घटाटोप बादर के गहरे अंधकार से
बरखा की बौछार-धार धरती पर धँसती,
तीखे तीखे बानों से
बिरछों की छाती छिलती;
बेबोल बिचारी मिट्टी के—
ओठों से आह निकलती;
धार बाँधकर पहरों रोती
मैंने जहाँ ओरौती देखी !

प्यारी ! उसी पढ़ाई वाले गाँव में—
जहाँ मदरसे की खपरैलों की छाया में,
लम्बे लम्बे फटे पुराने टाट पर
पल्थी मारे बैठा बैठा ऊबता,
पोत-पोतकर करिखा से अपनी पाटी को
खूब लपालप चमकाता था;
सतर-सतर में उज्जर-उज्जर

बड़े-बड़े अच्छर लिखता था !
 जहाँ, कभी मुर्गा बनता था;
 कान-उमेठी भी खाता था ॥
 गाल लाल थप्पड़ से होकर झन्नाता था;
 गादी मार सठैया की पा कल्लाती थी;
 तरे झुकाये मूँड़ चाव से
 खुटुर-खुटुर चुपचाप सरौता की सुनता था;
 पिचका, तिरकोना मुँह पंडितजी का
 भरा सुपारी से तकता था !
 नोच बरौनी, मार एक मक्खी दोनों को
 मैं रखता था घाम में,
 फिर देता था थूक वहीं पर,
 दिन जाने को बार बार व्याकुल होता था !
 कहता-कहता,
 'आठ-पाँच-त्यारा, भय छुट्टी कै ब्यारा'
 भूत बना मैं,
 काला-काला घर आता था !

प्यारी ! उसी रामलीला वाले गाँव में—
 दो दो गैसें, जहाँ दशहरे में जलती थीं,
 धनुष यज्ञ होता था, आते परशुराम थे,
 जटा बढ़ाये-फरसा साधे,
 आँखें लाल निकाले क्रोधी,
 शंख बजाते, रोष दिखाते,
 कूद कूदकर तखत तोड़ते,
 राम-लखन को तड़प सुनाते,
 लोगों पर कोड़े बरसाते;
 छा जाता था सन्नाटा बस !

रो रो देते थे नर-नारी !
जहाँ, राम-रावण का होता युद्ध था,
छिद छिदकर तीरों से सोती सैन्य थी;
हाहाकार-प्रहार, दुष्ट-संहार घिरा था;
विरही राम मिले सीता से, जहाँ ललककर,
प्रेम-सिन्धु में डूब गये सब लोग जहाँ के !!

प्यारी ! उसी प्रेम-निमन्त्रण वाले गाँव में—
जहाँ, कुएँ की जगत पर,
मेरे घर के सामने
पानी भरने को आती थीं
गोरी साँवरि नारि अनेकों;
गोरी रूप-कमान-समान तने-तन वाली
प्रबल-प्रेम की करती दृढ़ टंकार थीं;
साँवरि-विनय-वासना-विष में बोरी
उलट-पुलटकर नागिन जैसी डस लेती थीं !
और, जहाँ में रात में,
सपने के संसार में,
बन्द घरों की ऊँची दीवारों पर चढ़कर,
एक प्रेम की डोर पकड़कर,
रोज रोज जाया करता था पास उन्हीं के,
दिन में जिन्हें कुमारी कहता और रात में प्रेमिका;
जिन्हें अकेला सोता पाकर
मैं बाहों में कस लेता था,
ओठों और कपोलों का चुम्बन लेता था;
अपना नाम कुचों पर जिनके
मीटे चुम्बन से लिखता था;
जिनकी छाती बड़े वेग से

धक्-धक् करने लग जाती थी !
सूरज की किरणों से जगकर
फिर मैं अचरज में रहता था !

प्यारी ! उसी कमासिन गाँव में,
अपने प्यारे गाँव में,
नैनी से तुमको लाया हूँ !
हम दोनों का ब्याह हुआ है,
मैं पति हूँ—अब तुम पत्नी हो !
आज खुशी से पागल सागर
उमड़-उमड़कर मन के भीतर
जीवन की नदिया से मिलता,
जीवन की नदिया से कहता,
'मेरे आलिंगन में आकर,
मेरे अंग-अंग से मिलकर
अपनी सुधि-बुधि सब खो डालो,
फिर न अलग हो, गले लगा लो !'

ढोलक और मजीरा बजते,
मीठे गीत उमड़ते चलते,
उर में गूँज तुम्हारे करते
'खोलो घूँघट, बोलो बानी,
दूल्हा का मन तोलो रानी !'
देखो प्यारी ! वहाँ, जहाँ पर
ताल बड़ा सुन्दर लहराता,
ईटों का है देवस्थान,
पीपल का है पेड़ महान,
वहीं एक चट्टान पड़ी है,

अंकित है उनमें दो मूर्ति—
नर है एक, एक नारी है !
दोनों नंगे सटे खड़े हैं,
दोनों की जाँधें मिलती हैं;
दोनों की कटि एक हुई है,
दोनों की बाँहें जकड़ी हैं,
नर की दृढ़ छाती से दबकर
नारी का कुच तुरत दरकने वाला ही है,
बाहर आधा निकल रहा है;
ओंठ ओंठ को चूस रहे हैं;
आँखें बन्द निशा फैली हैं;
प्यारी ! देखो यही मूर्तियाँ
सब नर नारी पूज रहे हैं,
प्रेमालिंगन सीख रहे हैं !
आओ हम तुम इन्हें पूज लें
प्रेमालिंगन यही सीख लें !
यही प्रेम-तीरथ है प्यारी !
देव और मानव दोनों का !!

1-1-1938 (लखनऊ)

तुम न आई!

तुम न आई!
आज के दिन
बाँसुरी मुख से लगाये,
प्रेम-उस्थित वक्ष दाबे,
चुप रहा,
रोता रहा मैं।

तुम न आई!
आज के दिन
नील नभ में,
स्वर-तरंगें
हर्ष के कल्लोल से
दिशि-दिशि गुँजाती,
उठ न पाई!

तुम न आई!
आज के दिन
यह उदासी
यह निराशा,
चुप किये हैं—
बाँसुरी में वेदना प्यारी! समाई!
तुम न आई!!

2-1-1938 (लखनऊ)

प्रागराज में

प्रागराज में
आज जहाँ तुम
पिता गेह में
मुझको बिसरा
हर्ष मनातीं !
वहीं-वहीं मैंने गंगा को
सागर-मति को पाने जाती
आँखों देखा—
प्रेम-मोहिनी रूप सजे थी,
श्वेत उरोज उमंग भरे थी ।
दूर दिशा से ही आती थी,
पागल दिल की व्याकुल कंपन,
गहनों की रुनझुन
कानों में ।

3-1-1938

है न इतना गीत में रस

है न इतना गीत में रस
है न इतना काव्य में रस
रूप में जितना तुम्हारे
प्राणप्यारी ! है भरा रस ।

धर्म फल फीका बहुत है;
कर्म फल फीका बहुत है;
फिर चखाओ प्राण प्यारी !
प्रेम फल मीठा बहुत है !

31-12-1940

ये दो प्राण

ये दो प्राण! पहाड़ी देखो; कितना है मधु-प्यार!
सदियों से अब तक करती हैं आलिंगन अभिसार!
निझर इसके, झरने उसके, गाते गाते गीत,
स्वर-सम्मेलन में हिलमिलकर, कर लेते हैं प्रीत!
प्यारी-प्यारी कलियाँ इसकी, उसके फूल किशोर
गंध-अंध हो अनिलांचल में, होते प्रेम-विभोर!
इसके खग, उसके खग—सबका प्यारा एक कुटुम्ब,
इन दो में ही पक्षी पाते अन्न, प्राण, अवलम्ब!
प्राण! इन्हें मैं कैसे मानूँ मूक पहाड़ी दीन?
ये तो कोई पूर्व-जन्म के प्रेमी हैं सुख-लीन!
युग-युग से ऊषा सुकुमारी खोल स्वर्ग का द्वार
इर्हीं प्रेमियों के स्वागत को आती बारम्बार!

1-1-1941

क्या बताऊँ

क्या बताऊँ हाल अपना! हो गया हूँ एक सपना!
नींद में भी प्राण प्यारी! हो सकी जिसकी न रचना!!
मैं किसी भी स्थान जाऊँ; ध्यान लाऊँ या न लाऊँ!
आँख खोले आँख मूँदे! मैं तुम्हें सब ओर पाऊँ॥

2-1-1941

यौवन की पीड़ा

यौवन की पीड़ा है असहनीय !

व्याकुल है रत्नाकर उर अपार;
सुन्दर शशि धारे हैं अश्रुहार !
कंचन गिरि कम्पित है अति अशान्त ।
केहरि अच्छूद्धुल हैं, गज मदान्ध !
तृष्णाकुल आकुल हैं अहि अधीर;
मर्दित है नारी का सब शरीर !!
बसन्ती बसन्ती है अदमनीय !
यौवन की पीड़ा है असहनीय !!

16-2-1942

चला समीर

चला समीर
आषाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर !

दूरागत मधु स्मृतियाँ तमकीं
विद्युत धाराओं में चमकीं
प्राण पपीहे की पुकार ने
मारा तीर !

प्रेम धार जीवन की बरसी
तृप्ति हुई आकुल उर सरसी
रही न आतप की संतापी
दारुण पीर !

चला समीर
आषाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर ।

20-8-1944

मीठे मीठे प्यार की बहार है

मीठे मीठे प्यार की बहार है !
चाँदनी के आज रूप-रश्मि का सिंगार है ।
फूली हर एक डाल फूल से अपार है ॥
फूल में सुगंध है मरंद है निखार है ।
फूल की सुगंध में बसंत का विहार है ॥
मीठे मीठे प्यार की बहार है !

वायु आज वायु नहीं एक झनकार है ।
जाने कौन दूर से बजा रहा सितार है ॥
मोह रहा मेरा मन गीत का उभार है ।
मेरा नहीं मुझ पर आज स्वाधिकार है ॥
मीठे मीठे प्यार की बहार है !

9-4-1951

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
दूर से भी दूर होकर, पास अब आने लगी हो ।
रोम में, तन में, हृदय में, वासकर गाने लगी हो ॥
चाँदनी के चारु चंचल, तार झनकाने लगी हो ।
प्रान-पूरित प्यार की मनुहार बरसाने लगी हो ॥

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
सात सागर तैरती हो, मेरु दरकाने लगी हो ।
तेग की क्षुर धार पर चल, आग पर धाने लगी हो ॥
फूल-सी सुकुमार सुंदर बाँह, फैलाने लगी हो ।
मोहिनी बन मोहने को मोह दरसाने लगी हो ॥

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
पास से भी पास होकर, पास अब आने लगी हो ।
हाथ में ले हाथ मेरा, हाथ सहलाने लगी हो ॥
गात में ले गात मेरा, गात दुलराने लगी हो ।
मैं तुम्हें प्रिय पा गया हूँ, तुम मुझे पाने लगी हो ॥

6-7-1951

नहीं तुम निकट हो

नहीं तुम निकट हो, नहीं तुम निकट हो
बहुत चाँदनी है, तो क्या है बताओ
अकेला हृदय है अँधेरा पड़ा है।

नहीं तुम निकट हो, नहीं तुम निकट हो
बहुत फुल्ल तरु हैं, तो क्या है बताओ
महा वृक्ष मेरा अकेला खड़ा है।

26-11-1952

प्राणमयी मुसकान

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब कूलों को पार करेगी ।
दीन दुखी मेरे जीवन में,
तब विद्रोही ज्वार भरेगी ॥

ज्वालमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शोषण को क्षार करेगी ।
पर पीड़ित मेरे जीवन में,
तब आशा-उद्गार भरेगी ॥

फूलमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शूलों को प्यार करेगी ।
धूल भरे मेरे जीवन में,
तब मधुमय रसधार भरेगी ॥

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब युग की गुंजार करेगी ।
ध्वस्त हुए मेरे जीवन में,
नव वैभव शत बार भरेगी ॥

30-11-1952

पथ चूम लिया

पथ चूम लिया मैंने रज का,
पाषाण-शिलाओं पर दौड़ी,
मैं लाल लजीली स्वर्ण-किरण
वृक्षों के तन से जा लिपटी।

वे पेड़ बड़े संन्यासी हैं,
निस्तब्ध खड़े तप करते हैं
लेकिन मेरे भुज-बंधन में
वे आत्म-समर्पण करते हैं

9-2-1953

जब नाचे बिजलिया

जब नाचे बिजलिया बादल में,
बरजोरी हृदय के आँचल में
तब तुम आना—तब तुम आना।

जब बोले पपिहरा कानन में,
अनुरागी हृदय के आँगन में
तब तुम आना—तब तुम आना।

4-5-1953 (बाँदा)

दिया मैंने जलाया

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
सोने के तार का।
आँखों से हँसते सिंगार का,
मोती के हार का!
मोती के हार का है दीपक यह प्यार का!!

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
फूलों के द्वार का।
यौवन के उपवन-विहार का,
चुम्बन-प्रहार का!
चुम्बन-प्रहार का है दीपक यह प्यार का!!

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
शारद फुहार का।
आसव-सुवासित दुलार का,
नेहाभिसार का!
नेहाभिसार का है दीपक यह प्यार का!!

19-7-1953 (बाँदा)

जब सेमल का पेड़

जब सेमल का पेड़ अकेला
बाट जोहकर थक जाता है
तब बेचारे का हर पत्ता
आहत होकर झर जाता है
आह ! नहीं तुम आ पाती हो
सेमल को अपना पाती हो !

9-2-1953

जवानी का झूला

जवानी का झूला अकेले न झूलो ।
मुझे साथ ले लो दुकेले में झूलो ॥
हवा हरहराये, छुये, गुदगुदाये,
लहर की तरह हर पहर गुनगुनाये,
हवा के तराने अकेले न पी लो ।
मुझे साथ ले लो दुकेले में पी लो ॥
जवानी का झूला अकेले न झूलो ।
मुझे साथ ले लो दुकेले में झूलो ॥

7-7-1953 (बाँदा)

मैंने एक डाल छुई

मैंने एक डाल छुई।
फूलों से लाल हुई॥
उसने आलिंगन में॥
बाँध लिया उपवन में॥

उसने मुझे प्यार किया।
मैंने उसे प्यार किया॥
दोनों दुख भूल गये।
झूले में झूल गये॥

कोयल ने गान किया।
हमने मधु पान किया॥
फूलों की ज्वाल में।
यौवन की ताल में॥

9-7-1953 (बाँदा)

फूले हैं फूल,

फूले हैं फूल,
और गाती है कामिनी !
यमुना को चूमती है
पूनम की चाँदनी !!
आसव में डूबी है,
यौवन की यामिनी !
आँखों से हँसती है जैसे किरातिनी !!

12-7-1953

आँख से उठाओ

आँख से उठाओ और बाँह से
सँवार दो
अंतरंग मेरा रूप-रंग से
निखार दो
साँस में समाओ और शक्ति से
उबार लो
बार बार चूमो और बार बार
प्यार दो

2-2-1954

मेरे प्रान

मेरे प्रान !
मारो बान ।
मैं भी खड़ा छाती तान,
पूरा करो स्वाभिमान,
मेरा हरो रुद्र-ज्ञान,
मैं भी करूँ प्रेम पान,
तुम भी करो प्रेम पान
मेरे प्रान !
मारो बान ।

10-10-1954

छूटता है गेह

छूटता है गेह गोरी जा रही है
वेदना अब आँसुओं से गा रही है
कंठ से उमड़ी हृदय पर छा रही है
मायके की याद मन भरमा रही है
छूटता है मेरु, गंगा जा रही है
पत्थरों का भी हृदय पिघला रही है
पादपों को भेंटती अकुला रही है
गीत मिलनातुर विकल अब गा रही है

10-10-1954

दूर मुझसे हो न जाना

दूर मुझसे हो न जाना
भूल से तुम खो न जाना
अन्यथा खोजा करूँगा
मेरु से
मरु से
मही से
नाव से
नद से
नदी से
सिंधु से पूछा करूँगा
पेड़ से
पथ से
गली से
वायु से
वन से
कली से
धूल से पूछा करूँगा
गाँव की गोरी कहाँ है?
भाव की भोरी कहाँ है?

रूप-रस बोरी कहाँ है?
फूल-सी छोरी कहाँ है?
और मैं रोता रहूँगा,
अश्रु-कन बोता रहूँगा !

29-10-1954

तुम्हीं तो आती हो

तुम्हीं तो आती हो
बाल खोल जूँड़े के;
कंधों पर रात को
मेरे पास लाती हो;
जैसी तुम मेरी हो!
वैसी रात मेरी है!!

11-9-1955

नयन में कमल

नयन में कमल मुस्कुराने लगा है
अधर में भ्रमर गुनगुनाने लगा है
कि तुम पास आओ,
अधिक पास आओ
हृदय अब हृदय को बुलाने लगा है !

प्रकृति में प्रणय रसमसाने लगा है
प्रणय में समर्पण समाने लगा है
कि तुम पास आओ,
अधिक पास आओ
पवन अब प्रमद डगमगाने लगा है !

14-10-1955

हाथ से

हाथ से
उस दिन तुम्हारे जो गिरा,
भाग्य जब उसका फिरा,
राह पर
जो चुप पड़ा ही रह गया,
वह नहीं मैं
खो गया रूमाल हूँ!

मैं, बिछुड़कर भी,
कभी बिछुड़ा नहीं;
भाग्य तो मेरा कभी बिगड़ा नहीं;
मैं अधर में,
आँख में,
उर में जिया;
मैं
तुम्हारे रूप का भूचाल हूँ!

2-3-1956

बंधन में भी

बंधन में भी है मुझको—

निर्बन्ध बनाता प्रेम तुम्हारा
किशलय-अंगों के आलिंगन
में बहती है मधु की धारा
ज्यों ही उर से उर मिलता है
ढह जाता है क्षुब्ध किनारा
सीमा में भी है मुझको—
निस्सीम बनाता प्रेम तुम्हारा

दृन्दों में भी है मुझको—

निर्द्वन्द्व बनाता प्रेम तुम्हारा
काँटों पर चलने का मुझको
होता है उत्साह तुम्हारा
तोड़ चुका हूँ, फिर तोड़ूँगा
एक नहीं, मैं सौ-सौ कारा
कष्टों में भी है मुझको—
कर्मण्य बनाता प्रेम तुम्हारा

6-3-1956

गुलाबी गालों वाली नारि

गुलाबी गालों वाली नारि!
न बैठो पल भर मेरे पास
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय का तोड़ोगी विश्वास

शराबी आँखों वाली नारि!
न हैरो पलभर मेरी ओर
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय को बेधेगी दृग-कोर

नशीले केशों वाली नारि!
न खोलो पल भर कुंचित केश
कि मुझको डर है उनसे आज
हृदय को डस लेंगे उरगेश

रसीले ओठों वाली नारि!
न बोलो मधु में साने बैन
कि मुझको डर है उनसे आज
हृदय का हर लेंगे सुख-चैन

बसन्ती बाहों वाली नारि !
न डालो फूलों का गलहार
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय को कर दोगी लाचार

25-4-1956

हवा पहनकर तुम चलती हो

हवा पहनकर तुम चलती हो
इसीलिये यह हवा देह से जब लगती है
मुझे तुम्हारा ही आलिंगन मिल जाता है
और मुझे यह सूना बन भी
बड़ा रुचिर मालुम होता है

अतः चलो तुम
हवा पहनकर रोज चलो तुम
तरु गन झूमें,
लहरें आकर तट को चूमें
मैं भी झूमूँ
तुमको चूमूँ

19-7-1956

वह मुस्कान

वह मुस्कान तुम्हारी है—
जो अतिशय मुझको प्यारी है
मुझको छोड़ नहीं अब उसका कोई भी अधिकारी है
मेरी है वह, मैंने उस पर
सब तन्मयता वारी है
उसके कारन अब तो मुझसे सारी विपदा हारी है

12-8-1956

बीना बिना तार के

बीना बिना तार के न बीना है
तार-कसी बीना ही प्रवीना है
तार बिन बीना मूल्यहीना है
बीना बिना बोल बनी दीना है

बीना बिना तार के न बीना है
प्यार पिये बीना ही प्रवीना है
प्यार बिना बीना प्रानहीना है
बीना बिना प्यार बनी दीना है

21-8-1956

बाग की बहार

बाग की बहार लिये,
बेला के फूलों का हार लिये,
गीत का सितार और प्यार लिये,
वायु चली झूमती सिंगार किये !

अंग में अनंग लिये,
रंग-रूप-राग की तरंग लिये,
चन्द्रमा-चकोर-चाव संग लिये,
वायु चली प्रेम का प्रसंग लिये !

खोल दो सुकेश प्रिये !
अंधकार देश का प्रदेश प्रिये !
मुक्त हो समीर का प्रवेश प्रिये !
अंग मिलें अंग से विशेष प्रिये !!

21-8-1956

रूप दो

रूप दो कि रूप की सुरा पिँँ!
रूप में रमा मदांध मैं जिँँ!!
ज्ञान में नहीं रहूँ,
न शोक में रहूँ,
ज्ञान-शोक-शून्य—
प्रेम-लोक में रहूँ!
प्रेम दो कि प्रेम की सुरा पिँँ!
प्रेम में पगा प्रमत्त मैं जिँँ!!

21-8-1956

अब मिले अधिकार मुझको

अब मिले अधिकार मुझको
पूर्णिमा-सा प्यार मुझको
दूर से मैं पास आऊँ—
तुम्हें पाऊँ
आँख में, उर में, समाऊँ
तुम करो स्वीकार मुझको
मैं करूँ स्वीकार तुमको

अब मिले मनुहार मुझको
बाहुबद्ध बहार मुझको
मैं समय को भूल जाऊँ
गीत गाऊँ
चाँदनी बरसे, नहाऊँ
तुम बनो रसधार मुझको
मैं बनूँ रसधार तुमको

25-08-1956

किरन गोद में लिये खड़ी है

किरन गोद में लिये खड़ी है वत्स शिशिर को,
जो उसके ही तरुण अंग का अरुण अंग है,
जो उसके सुरधाम-सिधारे-

पति महेश की प्रमुदित छवि है,
जो उसके सस्मित शैशव की,
प्रेम-प्रणय की मदिर महक है,
जो अब उसके पंकिल जीवन का पंकज है !

ऐसा लगा कि जैसे अपनी धूमिल धरती,
पूनम के शशि को लेकर है चमचम चमकी,
और उसे मैं देख रहा हूँ आँखें खोले
ऐसे जैसे देख रहा हूँ जगदम्बा को—
अंक लिये अविकल अविनाशी वर ब्रह्मा को !

भूल गया मैं कटु जीवन के चुभते काँटे,
भूल गया मैं दूभर दिन के दुखते काँटे,
भूल गया मैं नील-नदी सम बहते आँसू,
भूल गया मैं चिनगारी सम दहते आँसू !

गोधूली की यह बेला है,
पशु-पक्षी सब लौट रहे हैं अब अपने घर,
पूछ रहा हूँ मैं अब मन से :

लौट सकेंगे क्या महेश भी इसी तरह घर?
भेंट सकेंगे क्या महेश भी प्रिया किरन को?
चूम सकेंगे क्या महेश भी वत्स शिशिर को?

किन्तु नहीं मिलता है उत्तर मुझको मन से,
अस्तु आज मैं बहुत विकल हूँ,
शिशिर-किरन के लिए व्यथित हूँ,
सम्मुख आती हुई रात से भय-कम्पित हूँ,
अस्तु आज मैं किरन-शिशिर को
घबराहट में—पास पहुँचकर—चूम रहा हूँ,
और अँधेरा हर लेने को,
अपनी आत्मा के प्रदीप को जला रहा हूँ,

24-10-1956

हो सकता है

हो सकता है तुम्हें हमारी याद न आये
हमसे ज्यादा तुम्हें दूसरा कोई भाये
वह तुमको हमसे भी मीठे गीत सुनाये
गीतों की लहरों का बंदी तुम्हें बनाये
किन्तु नहीं यह हो सकता है मन मुरझाये
मेरे गीतों का रस मन से ही रिस जाये
अन्य किसी के गीतों में वह नहीं समाये
और तुम्हें वह बारम्बार नहीं हरसाये

20-9-1956

प्यार है विहंगों में

प्यार है विहंगों में—

बार बार जीने का,
बार बार रंग, रूप, नेह नीर पीने का,

बार बार पक्षी का—

नया जन्म पाने का;

बार बार गाने का—नीड़ के बनाने का।

प्यार है मनुष्यों में—

बार बार जीने का,
बार बार राग, रूप, गंध, धूप पीने का,
बार-बार पृथ्वी में
नया जन्म पाने का,
बार बार गाने का—गेह के बसाने का।

15-7-1957

पुष्पों-से प्रस्फुटित अंग की

पुष्पों-से प्रस्फुटित अंग की निरावरण रति-रमणी,
आलिंगन-आबद्ध सिंधु-सी, मुखर वक्ष, विस्तारित नयना,
ऊर्ध्वमुखी रोमांचित वदना, चन्द्रोदय में
मेरे हिम-आवृत सत्ता के ऐन्ड्रिक तन को
रसभीने चुम्बन देती है तप्त तप्त पर्याप्त सहस्रों !

इतनी मायामयी विवसना विपुल वासना,
मुझे समाहित किये पूर्ण कर रही कामना;
मैं जीता हूँ और जिउँगा इसी तरह से
यही स्वर्ग है मेरा अपना, और स्वर्ग मैं नहीं चाहता ।

दूर नयन के अरे सितारो ! मुझे न टेरो,
नभ-गंगा में नहीं नहाने की इच्छा है,
नहीं तुम्हारे दीप चूमने की इच्छा है,
नहीं तुम्हारे स्वप्न माँगने की इच्छा है !

तुम शशि-स्वामी ! इसी तरह से रहो चमकते,
रात तुम्हारी और हमारी लम्बी होवे,
तुम्हें बुलाती है गिरि-माला उसको भेंटो,
तुम्हें बुलाती हैं सरिताएँ उनको चूमो,

तुम्हें बुलाती है सुमनावलि रस ले पी लो,
अभी न पीले पड़ना, अभी न झुक कर गिरना,

पल को कल्प बनाते रहना, इसी स्वर्ग में हमको रखना।

तुम रवि-राजा! उदयाचल पर अभी न आना,
तुम्हें दिवस प्यारा है लेकिन मेरी रात मुझे प्यारी है,
पौ फटने पर रक्त बहेगा,
आलिंगन-आबद्ध स्वर्ग फिर ढह जायेगा!

मेरे लोगो! मुझे न खोजो,
यहाँ वहाँ तुम जहाँ जिधर हो वहाँ रहो तुम,
आँखें मूँद वहीं सो जाओ,
मेरी रजनी मुझे मुबारक और तुम्हारी रजनी तुमको

विपुल वासना की यह भाषा, अजर अमर हो मेरी भाषा!

2-10-1957

उड़ने को उड़ी

उड़ने को उड़ी और उड़कर फिर आ गयी,
व्योम में समाकर, वह धूप में हवा में धुल आ गयी,
प्यार से कबूतर के पास बैठ पखने सहला गयी,
देह और आत्मा की भूख को मिटा गयी,
भूतल में भूतल की रीति को निभा गयी !

5-10-1957

तरुओं की शीतल छाया में

तरुओं की शीतल छाया में, सुमनावलि की मधु-माया में
वह सामीप्य तुम्हारा तो है, जो मैंने उस सुख में पाया।
कुश-कंटक के बीहड़ वन में, घन-गर्जन पावक-वर्षण में
वह विश्वास तुम्हारा तो है, जो मैंने उस दुख में पाया॥

6-10-1957

कितना प्रिय है

कितना प्रिय है शाशि का दर्पण
जो गिरि-गन पर-
वन पर गिरकर,
जल पर तिरकर,
और हवा के झोंके खाकर,
कभी न टूटा;
बना हुआ है पूर्ण, अनूठा;
लिये हुए तसवीर तुम्हारी—
और हमारी।

25-3-1958

तू गेंदे का खिला फूल है

तू गेंदे का खिला फूल है
जिसका सोना महकदार है
और उसी सोने का मेरा—
 कंठहार है—
जो तेरा प्रेमोपहार है,—
और अनूठी—
 मेरे-तेरे
मिलन-मोह की यादगार है।

26-3-1958

सुआपंखी घाम

सुआपंखी घाम पहने पेड़ वन के,
मोर नाचे तले जिनके;
गीत गाते विहग जिनके;
और झूले में झुलाते हमें-तुमको,
फूल देते,
और फल की भेंट देते,
वे अनूठे पेड़ सूखें नहीं वन के;
अमर हों जैसे अमर कवि सूर-तुलसी।

14-6-1958

जब तुम अपने केश खोलकर

हे मेरी तुम
जब तुम अपने केश खोलकर
तरल ताल में लहराओगी,
और नहाकर
चंदा-सी बाहर आओगी
दो कुमुदों को ढँके हाथ से,
चकित देखती हुई चतुर्दिक,
तब मैं तुमको
युग्म भुजाओं में भर लूँगा,
और चाँदनी में चूमूँगा तुम्हें रात भर
ताल-किनारे।
कई जन्म तक याद रहेगा
यह दुर्लभ सुख
हम दोनों को।

27-6-1958

उड़ते जाते हुए मेघ को

हे मेरी तुम!
उड़ते जाते हुए मेघ को
आओ रोकें—
मैं गाऊँ-तुम-नाचो
नृत्य और संगीत—
मुाध करता है सबको
चाहे जो हो!

22-6-1958

आकर देखो

हे मेरी तुम !
आकर देखो :
मैंने घर की दीवारों पर,
अपने लम्बे नाखूनों से
कितने चित्र तुम्हारे आँके;
किस सुचाव से
काश बोल सकते यह तुम-सा,
और भेंटते मुझको तुम-सा !

23-6-1958

वह समीर

हे मेरी तुम!
वह समीर—
जो तुमसे हरदम हिला-मिला था;
आह! तुम्हें हरदम छूता था
—वन फूलों की पंखुरियों से—
बिना हिचक के;
और तुम्हें चंचल करता था
—जल के जैसा—
मेरी बाहों में आने को—भर जाने को;
हाय! तुम्हारे बिना दुखी है,
अवचेतन है और मलिन है।
क्या तुम, फिर से आकर, उसको
चेतन, चंचल, सुखी करोगी?

23-6-1958

नीर छिछला नीर

नीर
छिछला नीर
पतली पूँछ का यह नीर—
गरमियों में
शरद—शीतल—
संचता है रेत
और हरता है
धरा की पीर
धार हो जैसे
तुम्हरे प्यार की
याद हो जैसे
किसी झंकार की
और चितवन हो
किसी ब्रजनार की

26-6-1958

टहल जाओ

टहल जाओ इस तरह मेरे हृदय पर
टहल जाये धूप जैसे चम्पई, सुकमार
जब अँधेरा हो रहा हो तार-तार
और वह मैदान जिस पर धूप टहले
हो रहा हो फूल से गुलजार !
आह ! मेरी प्रार्थना का ज्वार
तुम करो स्वीकार !

26-6-1958

यह नीला-सा फूल

हे मेरी तुम!
यह नीला-सा फूल तोड़कर
मुझको दे दो
ताकि इसे मैं
बरसाऊ बादल को पहले
भेंट चढ़ाऊँ;
फिर वह बरसें,
और तुम्हें नहलायें,
अंग तुम्हारे झलकें।

बादल को प्यारा लगता है
मिट्टी का यह नीला फूल।
मुझको भी प्यारा लगता है
अंचल का यह गीला फूल ॥

26-6-1958

केवड़े में ढूबी

केवड़े में ढूबी
और चाँदनी में ठंडी हुई
आयी हवा कमरे में
बावली-सी,
और मुझे, पहरों तक,
अंक से लगाये रही,
जैसे वह मेरी-मैं उसका हूँ!

10-7-1958

और शीशा मुस्कुराया

क्या नहीं कुछ हो गया
जब याद आयी
और परदे फड़फड़ाये;
फ्रेम से तसवीर निकली,
और शीशा मुस्कुराया।
वाह ! फिर तो फूल बरसे,
और मैं तुमसे मिला !
क्या नहीं कुछ हो गया
जब तुम मिलों !

13-7-1958

पंख फुलाये हुए कबूतर और कबुतरी

हे मेरी तुम
पंख फुलाये हुए कबूतर और कबुतरी
खुली धूप में बड़े प्यार से दाने चुगते,
और गुटरगूँ करते-मिलते-रसियाते हैं !
इन्हें देखकर मुझे देखना,
मुझे देख कर इन्हें देखना,
फिर मेरी बाहों में आकर
मुझे भेंटना
अब क्या यह तुम भूल गयी हो?

हे मेरी तुम !
वह देखो, लो बिल्ली आई,
उड़े कबूतर और कबुतरी,
मैं बैठा हूँ खिन्न अकेला !

26-11-1958

जमुन जल तुम

रेत मैं हूँ—जमुन—जल तुम!
मुझे तुमने
हृदय तल से ढँक लिया है
और अपना कर लिया है
अब मुझे क्या रात—क्या दिन
क्या प्रलय—क्या पुनर्जीवन!

रेत मैं हूँ—जमुन—जल तुम!
मुझे तुमने
सरस रस से कर दिया है
छाप दुख—दब हर लिया है
अब मुझे क्या शोक—क्या दुख
मिल रहा है सुख—महासुख!

28-11-1958

नील जल में जोत-सी

नील जल में जोत-सी
बिंबित जगामग,
तैरकर,
दुबकी लगाकर,
कुछ लजाकर
निकल आयी;
और
बैठी है शिला पर
सामने !

देह से
पानी टपकता
और टप टप
टूटता है,
साथ
ऐसी सुन्दरी का
यों
अयाचित
छूटता है !

28-8-1959

होता हरा धान

आह ! मैं होता हरा धान
पूरे खेत में खड़ा धान
शीश पर ताने आसमान
उदार सूर्य से भासमान
मैं करता तुम्हें प्यार
अंक में लेकर बार-बार
गोरी का चूमता कपार

31-10-1959

तुम मुझे कुछ न दो

तुम मुझे कुछ न दो
न अपनी उँगलियों के स्पर्श की वर्तुल लहरियाँ
न अपनी आखों की चुम्बकीय बिजलियाँ
न अपने कंधों पर की झुकी हुई मदांध सुगंधित रातें
न अपने उरोजों के उठे हुए कसे आश्वस्त कूल
न अपने गालों के गुलाबी प्रभात
न अपने ओठों के ललित लालिम चुम्बन
न अपने नितम्बों का चरणों तक बहता हुआ महोल्लास
न अपने फूल-झरते बोल
न अपना हिमानी मौन
लेकिन तुम मुझे दो
मेरा धैर्य—मेरा हीरा
जिसे तुमने अखंडित लिया
और खंडित किया;
जिसे तुमने आभूषणों में जड़ाया
और यौवन का उत्सव मनाया,
अन्यथा असम्भव है मेरा जीना
बिना धैर्य—बिना हीरा !

14-11-1959

तुम्हारे उरोजों का सोना

तुम्हारे उरोजों का सोना
कठोर ही नहीं
दूध की धार से भरा
कोमल भी है।
कठोरता कोमलता का कवच है
तुम जानती हो न?

15-11-1959

मैं रणोद्यत हुआ

मैं रणोद्यत हुआ
माथे पर लेकर तुम्हारा चुम्बन;
झिझका नहीं-न अड़ा
बराबर लड़ा
घमासान संघर्ष में पड़ा;

हाथ हारे-पाँव हरे
मैं न हारा,
माथ में चुम्बन लिये जीता रहा।

15-11-1959

शिशिर में

शिशिर में जब दूर का चाँद तक ठिठुरकर
ठण्डा हो जाता है,
पास की चाँदनी तक सिकुड़कर
तुषार से ठोस हो जाती है,
और वायु का दूत तक गलकर शरीर से
सुन्न हो जाता है,
तब भी तुम्हरे अंग-प्रत्यंग में
ग्रीष्म की ऋतु ही रहती है,
रूप का चाँद सम्पूर्ण सुन्दर सविलास
हँसता ही रहता है,
यौवन का उद्दाम अकूल
महासिन्धु लहराता ही रहता है,
कठोर कुचों पर रलहार के नक्षत्र
टिमकते ही रहते हैं,
और मैं अंगों की ग्रीष्म ऋतु में
बिहार करता ही रहता हूँ!

17-11-1959

फिर निकला है चाँद

फिर निकला है चाँद दूज का
फिर आयी है याद तुम्हारी
फिर फैली है बाँह हमारी
जैसे, चाँद नहीं वह तुम हो।

5-12-1959

कई दिन हो गये

कई दिन हो गये तुम्हें गये
चुम्बन दिये—मुझे छोड़कर गये
पहले दिन वह चुम्बन रहा तुम्हारा चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह मेरे ओठ से चिपका
रक्ताभ—सुगंधित—नशीला ।

दूसरे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
झर ही तो गया मेरे ओठ से वह चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह जमीन पर
काँपता कराहता वियोगी !

तीसरे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
कुचल ही तो गया मेरे पाँव से वह चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह जमीन पर पड़ा
मौन, पराजित, पीला,

चौथे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
न रही गुलाब की वह पंखुरी
बच रही बस उसकी एक धूल भरी आह और याद

पाँचवें दिन से अब फिर तुम्हें खोजता हूँ
फिर एक चुम्बन चाहता हूँ तुम्हारा
अपने ओठ पर रक्ताभ, सुगंधित, नशीला
गुलाब की पंखुरी की तरह चिपका

न झरे जो न काँपे—न कुचले
न कभी आह बने—न याद

24-2-1960

प्राण में

प्राण में जो मेरा बहुत मेरा है
शब्दातीत—अर्थातीत मेरा है
प्रेयसी ! वह तेरा बहुत तेरा है
न काल का, न दिक् का वहाँ घेरा है

5-10-1960

अंधी रात का तुम्हारा तन

अंधी रात का तुम्हारा तन :
दाहिने हाथ की उठी हथेली;
नग्न कच्चे कुचों—
कटि के मध्य देश—
लौह की जाँघों से
आन्तरिक अरुणोदय की झलक मारता है
ओ चित्र में अंकित युवती !
तुम सुन्दर हो !
मौन खड़ी भी तुम विद्रोही शक्ति हो !¹

9-10-1960

1. अमृता शेलगिल के चित्र को देखकर

छिपकर भी

छिपकर भी
न छिप पायी हो तुम
भावों में,
खुली हो तुम
आज
जैसे खुली आँख
स्वप्न से भरी
चाँदनी के दर्पण में
कोई देखे
न देखे ।

मौन भी
न मौन हो तुम
बसन्त
मुखर हो तुम
आज
जैसे मुखर संगीत
फूल के ओठों में
कोई सुने
न सुने ।

20-10-1960

घुमड़कर घिर आये हैं

घुमड़कर घिर आये हैं
घन गगन में,
मोर नाचते
पंख खोलकर वन में
तुम भी तो हो
नाचो मेरे मन में

19-10-1960

क्षण-पर-क्षण

क्षण-पर-क्षण यह नृत्य-निरत तुम
और तुम्हारे अंगों की यह विद्युत-वर्षा
पग-पग पर यह दिवा-स्वप्न बन-बनकर दिपना
और प्रकम्पित दीपमाल की तरह लहरना

1-2-1961

न जाने कितने

न जाने कितने
प्रवाल पंखुरियों के सरोज, संपुट खोले,
अग्निम प्रकाश के चेतन आकाश से,
क्षण-पर-क्षण मिटते
मुग्ध मदिराक्ष देखते हैं हमको :
हमारे पर्वतांग वृषभों को :
हमारी बनचारिणी नदियों की गायों को :
हमारी नवयौवना नैसर्गिक हरीतिमा को :
हमारी शाश्वत शोभनीया शारदीय ग्राम्या को :
और हम देखते हैं उन्हें,
उनके सौन्दर्य पर रीझे ।
वे हैं कि मिट-मिटकर भी समाये रहते हैं
और मिटते नहीं मिटाए, हमारी आँखों से,
जैसे-राग से रंजित, रस से भरे
खुले-के-खुले, तुम्हारे उरोज हैं जैसे
एक दूसरे से सटे !

9-2-1961

नदी हो तुम

नदी हो तुम
गुनगुनाते प्यार की;
मैं बड़ी तकलीफ हूँ
संसार की !
मैं, तुम्हें, बाँधे हुए हूँ
बाँह में;
तुम जियो मेरे नयन की
छाँह में।

2-3-1961

यद्यपि मेरे मृण्मय घर में

यद्यपि मेरे मृण्मय घर में
चिन्मय दीप जला
हिम हेमन्त गला
फिर भी घर सूना-सूना है
तुम बिन मन ऊना ऊना है।

25-11-1961

कठोर हैं

कठोर हैं तुम्हारे कुचों के
मौन मंजीर,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

सुडौल हैं तुम्हारे नितम्ब के
दोनों कूल,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

निर्भीक हैं
चरणों तक गयीं
कदली-खम्भों-सी प्रवाहित
कुमारीत्व की दोनों
नदियाँ,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

22-10-1962

सब कुछ है

सब कुछ है
मगर कुछ नहीं है
जब तुम नहीं हो
मेरे पास

फूले खेत
हँसता चाँद
झरते मेघ
मन है बहुत उदास

अपनी देह
अपना गेह
मन का देश
सब कुछ हुआ विदेश

24-9-1965

तुम एक

तुम एक
सदेह सौन्दर्य का समारोह हो
मेरे मंच पर बज रहे हैं अब
तुम्हारे अंग-प्रत्यंग
जैसे वाद्य यंत्र

14-10-1965

तुम जो एक प्याला गरम चाय हो

तुम जो एक प्याला गरम चाय हो
 जिसे मैं हूँ चूमता अपने ओठ से
 किसी होटल में बैठा थका ऊबा
 तमाम लोगों के बीच
 मुझे बहुत अच्छी लगती है
 तुम्हारी मिठास
 जहाँ मुझे कुछ भी नहीं लगता अच्छा
 किसी भी तरफ से
 कि मैं किसी के बाग का वसन्त देखूँ
 जो पीला
 सिर्फ पीला पतझर है—

31-10-1967

मैं हूँ

मैं हूँ

उसका गुलाब
उसके लिए
उसके केश में खुँसा
और है,
वह
मेरे गुलाब की मेरी खुशी

12-10-1970

रंगे ओठ के

रंगे ओठ के
रक्तपात में,
उठी छातियाँ
हृदय बेधतीं
कमर-समर के बलाघात से,
चमक-चमक उठती है
बिजली,
कला-कुशल करती कटाक्ष
अभिनय विलास से ।

3-2-1975

केश-पाश में बसे

केश-पाश में बसे

वासना-विषयी बेला महके,

गंध-गंध हो गये अनंगी अंग रात भर गमके;

रत्नहार-चंचला चमकती

आलिंगन में विगलित,

केलि-कला में पगी

पुरुष को देती तृप्ति अपरिमित ।

6-5-1976

सांध्य-समय की ये प्रौढ़ाएँ

सांध्य-समय की ये प्रौढ़ाएँ,
छले और ढीले अंगों को
नव उभार दे,
बीते यौवन की बहार के
रम्य रूप से
फिर अनुरंजित कर शरीर को,
बसन और भूषण से भास्वर,
पथ पर चलतीं,
गंध-गमक की तरह गमकतीं,
आँखों में आँजे
कटाक्ष-काजल की लीला;
वशीभूत करती हैं जन-मन,
मंत्र-मार मोहक मनोज का
तिलक लगाये
वर्तमान के तर्क-जाल का जूड़ा बाँधे,
पुष्पमाल की छवि से आँके।

23-6-1976

किताब पढ़ती है एक औरत

किताब पढ़ती है एक औरत
किताब पर
झुके-झुके
शब्दार्थ पकड़ती है औरत
और
गिरफ्त हुए शब्दार्थ में
खुद भी गिरफ्तार होती है
गिरफ्त में आई औरत
मुझे बहुत सुन्दर लगती है
बाहों में जैसे आयी हुई
जिन्दगी हसीन लगती है

28-8-1976

इसी खूबसूरत धरती के

इसी खूबसूरत धरती के
मानव-कुल की
अनगिन सुमुखि सुताओं में से
परम सुन्दरी सुमुखि सुता हो
तुम भी एक

इसी खूबसूरत धरती ने
मानव-मन की काम्य कला से
रूप तुम्हारा और निखारा
देह यष्टि की कुसुम-राशि को
देख रहा

अपलक

जग हारा

30-9-1976

अनुक्रम

कविता की पहली पंक्ति	तिथि	पृष्ठ
घर घर मैंने कहा पुकार	24 जनवरी, 32	17
कर जोरि करैं अब एती बिनै...	1 मार्च, 32	19
लालसा लोकि पै बैठि सदा...	1 मार्च, 32	20
कल्पलता सी सुधर सलोनी	7 मार्च, 32	21
कोमल कुसुम से भी...	3 अप्रैल, 32	23
दूर होके मुझसे...	17 जून, 32	24
फूलो फूलो फूलो फूल	15 सितम्बर, 32	25
इतनी सुन्दर यह महफिल...	16 सितम्बर, 32	27
निशि आई, तू न मोहिनी आई	28 नवम्बर, 32	29
उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण	9 जनवरी, 33	31
जाग जाग प्रेयसि मैं रोया	26 मार्च, 33	32
मैं पागल हूँ...	19 मई, 33	33
कुञ्चित कुन्तल को सहलाती	8 अक्टूबर, 33	35
मधुऋषु के पागल प्यार जलो	9 अक्टूबर, 33	36
ओ पावस की मेरी रात	9 अक्टूबर, 33	37
प्रिये! मलिन है मेरा प्रात	2 नवम्बर, 33	40
रजनी का प्रेमी है कौन?	1 जनवरी, 37	41
प्यारी तारों का आलोक	1 जनवरी, 37	42
मैं तकती हूँ नील गगन पर	15 मार्च, 37	43
मेरी रूप-कुसुम सुकुमार	16 मार्च, 37	44
कोयल कहती ...	16 मार्च, 37	45
यह उजियाली रात...	17 मार्च, 37	46

उसके अंगों के छूने की	18 मार्च, 37	47
ऊषा कंचन वक्ष दिखाओ	19 मार्च, 37	48
तीन फूल ये तीन फूल...	9 अप्रैल, 37	49
दूर देश प्राण चलो!...	10 मई, 37	52
परम सुन्दरि	8 अक्टूबर, 37	53
आती हूँ तुझसे मिलने मैं	11 नवम्बर, 37	55
कठिन विरह की रात है	12 सितम्बर, 37	57
गीत किसी प्यारे ने गाया	18 दिसम्बर, 37	58
प्यारी! मेरे जन्म-गाँव में	1 जनवरी, 38	59
तुम न आई	2 जनवरी, 38	65
प्रागराज में	3 जनवरी, 38	66
है न इतना गीत में रस	31 दिसम्बर, 40	67
ये दो प्राण...	1 जनवरी, 41	68
क्या बताऊँ हाल अपना...	2 जनवरी, 41	69
यौवन की पीड़ा है असहनीय	16 फरवरी, 43	70
चला समीर	20 अगस्त, 44	71
मीठे-मीठे प्यार की बहार है	9 अप्रैल, 51	72
तुम मुझे प्रिय भा गयी हो...	6 जुलाई, 51	73
नहीं तुम निकट हो...	26 नवम्बर, 52	74
प्राणमयी मुसकान तुम्हारी	30 नवम्बर, 52	75
पथ चूम लिया मैंने रज का	9 फरवरी, 53	76
जब नाचे बिजलिया बादल में	4 मई, 53	77
दिया मैंने जलाया ...	19 जुलाई, 53	78
जब सेमल का पेड़ अकेला	9 फरवरी, 53	79
जवानी का झूला अकेले न झूलो	7 जुलाई, 53	80
मैंने एक डाल छुई	9 जुलाई, 53	81
फूले हैं फूल	12 जुलाई, 53	82
आँख से उठाओ और बाँह से	2 फरवरी, 54	83
मेरे प्रान	10 अक्टूबर, 54	84
छूटता है गेह...	10 अक्टूबर, 54	85

दूर मुझसे हो न जाना	29 अक्टूबर, 54	86
तुम्हीं तो आती हो	11 सितम्बर, 55	88
नयन में कमल...	14 अक्टूबर, 55	89
हाथ से	2 मार्च, 56	90
बंधन में भी है मुझको	6 मार्च, 56	91
गुलाबी गालों वाली नारि	25 अप्रैल, 56	92
हवा पहनकर ...	19 जुलाई, 56	94
वह मुसकान तुम्हारी है	12 अगस्त, 56	95
बीना बिना तार के ...	21 अगस्त, 56	96
बाग की बहार लिये	21 अगस्त, 56	97
रूप दो कि ...	21 अगस्त, 56	98
अब मिले अधिकार मुझको	25 अगस्त, 56	99
किरन गोद में लिये खड़ी हैं...	24 अक्टूबर, 56	100
हो सकता है तुम्हें...	20 दिसम्बर, 56	102
प्यार है विहंगों में	15 जुलाई, 57	103
पुष्पों-से प्रस्फुटित अंग की	2 अक्टूबर, 57	104
उड़ने को उड़ी ...	5 अक्टूबर, 57	106
तरुओं की शीतल छाया में...	6 अक्टूबर, 57	107
कितना प्रिय है ...	25 मार्च, 58	108
तू गेंदे का लिखा फूल है	26 मार्च, 58	109
सुआपंखी घाम पहने...	14 जून, 58	110
हे मेरी तुम	17 जून, 58	111
हे मेरी तुम	22 जून, 58	112
हे मेरी तुम	23 जून, 58	113
हे मेरी तुम	23 जून, 58	114
नीर	26 जून, 58	115
ठहल जाओ इस तरह...	26 जून, 58	116
हे मेरी तुम	26 जून, 58	117
केवड़े में डूबी	10 जुलाई, 58	118
क्या नहीं कुछ हो गया	13 जुलाई, 58	119

हे मेरी तुम	26 नवम्बर, 58	120
रेत मैं हूँ—जमुन-जल तुम	28 नवम्बर, 58	121
नील जल में जोत-सी	28 अगस्त, 59	122
आह ! मैं होता हरा धान	31 अक्टूबर, 59	123
तुम मुझे कुछ न दो	14 नवम्बर, 59	124
तुम्हारे उरोजों का सोना	15 नवम्बर, 59	125
मैं रणोद्यत हुआ	15 नवम्बर, 59	126
शिशिर में जब...	17 नवम्बर, 59	127
फिर निकला है चाँद दूज का	5 दिसम्बर, 59	128
कई दिन हो गये तुम्हें गये	24 फरवरी, 60	129
प्राण में जो मेरा	5 अक्टूबर, 60	131
अंधी रात का तुम्हारा तन :	9 अक्टूबर, 60	132
छिपकर भी	20 अक्टूबर, 60	133
घुमड़कर घिर आये हैं	21 अक्टूबर, 60	134
क्षण-पर-क्षण यह ...	1 फरवरी, 61	135
न जाने कितने	9 फरवरी, 61	136
नदी हो तुम	2 मार्च, 61	137
यद्यपि मेरे मृण्मय घर में	25 नवम्बर, 61	138
कठोर है तुम्हारे कुचों के	22 अक्टूबर, 62	139
सब कुछ है	24 सितम्बर, 65	140
तुम एक	14 अक्टूबर, 65	141
तुम जो एक प्याला...	31 अक्टूबर, 67	142
मैं हूँ	12 अक्टूबर, 70	143
रंगे ओठ के	3 फरवरी, 75	144
केश-पाश में बसे	6 मई, 76	145
सांध्य-समय की ये प्रौढ़ाएँ	23 जून, 76	146
किताब पढ़ती है एक औरत	28 अगस्त, 76	147
इसी खूबसूरत धरती के	30 सितम्बर, 76	148

०००

देवदत्तनाथ अधिकारी
द्वा.
रचना-संसार

